

गीतामूलविज्ञानभाष्यम्

तत्र

राजर्षिविद्यायाम्

ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषत्
प्रथमोपनिषत् (सप्तोपदेशी)

पं. मोतीलाल शास्त्री

वेदवीथीपथिकः

राजस्थान पत्रिका प्रकाशन

केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर ।



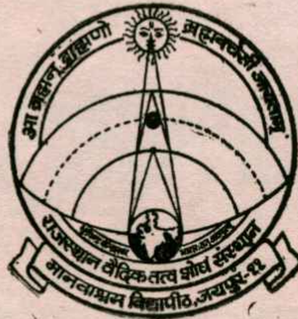
गीतामूलविज्ञान-भाष्यम्

तत्र

राजर्षिविद्यायाम्

ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषत्
प्रथमोपनिषत् (सप्तोपदेशी)

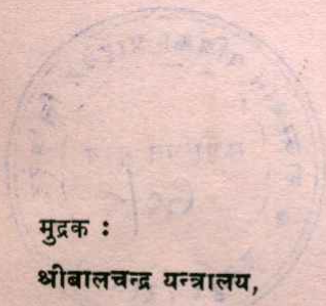
पं. मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथीपथिकः





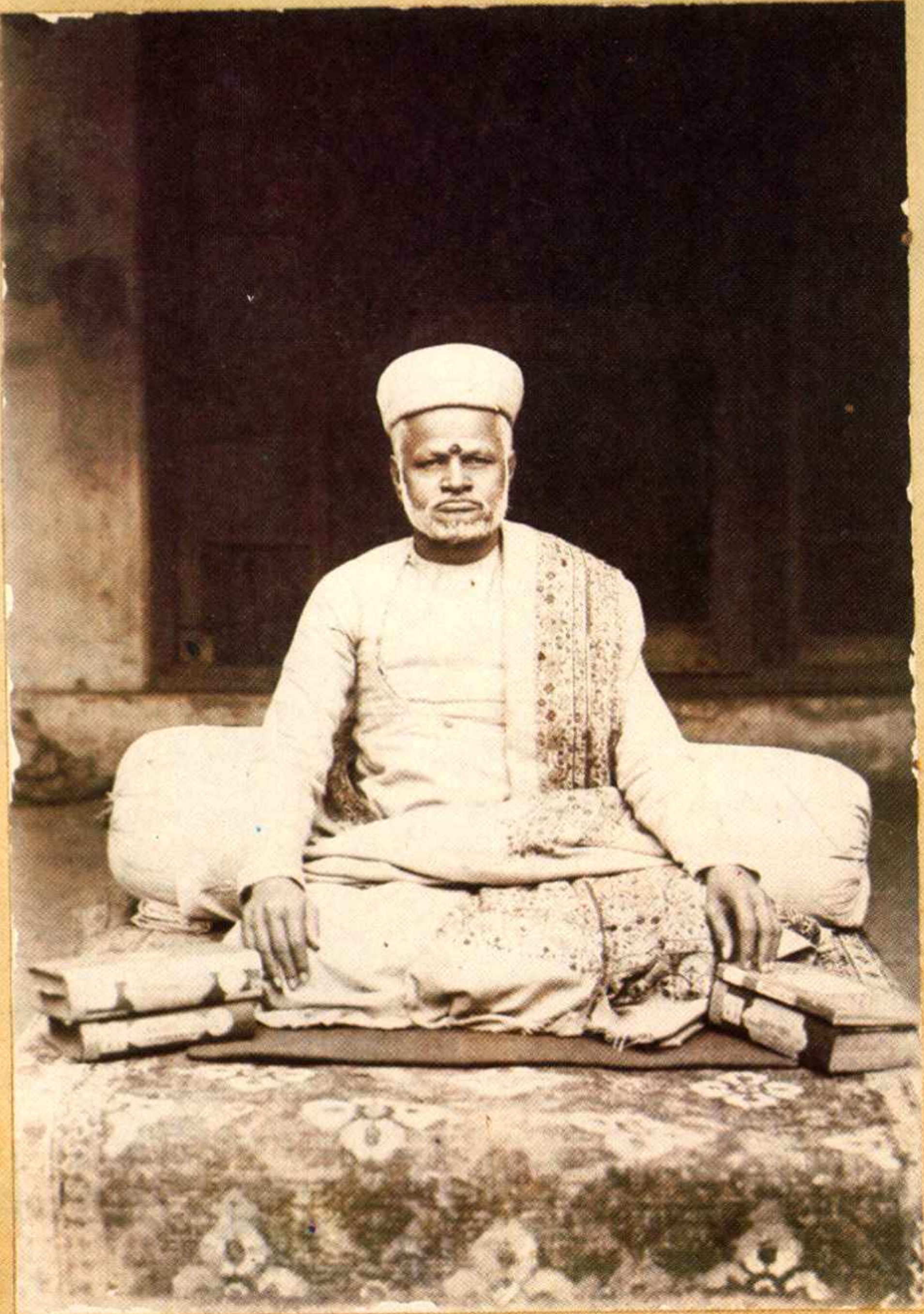
प्रकाशक :
राजस्थान पत्रिका लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर ।

ग्रन्थ–प्राप्ति :
राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान,
'मानवाश्रम', दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८





मुद्रक :
श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय,
'मानवाश्रम', दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८



पूज्यपाद विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा

प्रकाशकीय

राजर्षिविद्या के सम्बन्ध में पं० मोतीलाल शास्त्रीजी की प्रस्तुत रचना का प्रकाशन हमारे ज्ञान-भण्डार में एक विलक्षण योगदान सिद्ध होगा। गीता में भगवान् की जिन विभूतियों का प्रकाश हुआ है और चार विद्याओं में ज्ञान-वैराग्य-धर्म्म और ऐश्वर्य का विवेचन किया गया है, उन्हीं में से एक वैराग्य-विद्या पर विस्तार से विचार कर शास्त्रीजी ने अपने प्रातःस्मरणीय गुरुवर पं० मधुसूदन ओझा के गीताभाष्य का यशोज्ञान किया है।

गीता में जिसे राजर्षिविद्या कहा जाता है—उसके भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दुओं पर स्वतन्त्ररूप से प्रस्तुत ग्रन्थ-माला में प्रकाश डाला गया है। राजर्षिविद्या का अभ्यास मुख्यतः राज-पुरुषों ने किया अतः इस विद्या को राजर्षि कहा जाने लगा। राजर्षिविद्या मूलतः गीता में वर्णित चार विद्याओं का ही स्वरूप प्रकट करती है। इन सभी विद्याओं का पृथक्-पृथक् विवेचन करने के लिए शास्त्रीजी ने इस ग्रन्थमाला की रचना की है। इस ग्रन्थ के पारायण से गीता-शास्त्र के मर्म को भली-भाँति समझा जा सकता है।

स्व० शास्त्रीजी के ग्रन्थों के प्रकाशन से जुड़े प्रो० मदनमोहन शर्म्मा ने उक्त ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मूलपाण्डुलिपि के पाठ-निर्धारण, भाषा-सम्पादन एवं मूल संस्कृत-अंशों के प्रमाणिक पाठ-निर्धारण में बहुमूल्य योगदान किया है, इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

स्व० शास्त्रीजी के सुपौत्र चि० प्रद्युम्नकुमार शर्म्मा ने ग्रन्थ के विभिन्न स्थलों पर पाद-टिप्पणियाँ देकर, ग्रन्थ में उद्धृत सन्दर्भों के स्रोतों का सन्धान कर, सन्दर्भों को अंकित किया है, उनका परिश्रम श्लाघनीय है।

गीता-प्रेमियों के लिए यह ग्रन्थमाला उपयोगी सिद्ध होगी- ऐसा मेरा विश्वास है। सहृदय पाठक अवश्य ही इसे पढ कर उपकृत होंगे।

—कर्पूरचन्द 'कुलिश'

मकरसंक्रान्ति
वि० सं० २०४८



राजर्षिविद्या-प्रथमोपनिषत् (सप्तोपदेशी)

विषय-सूची

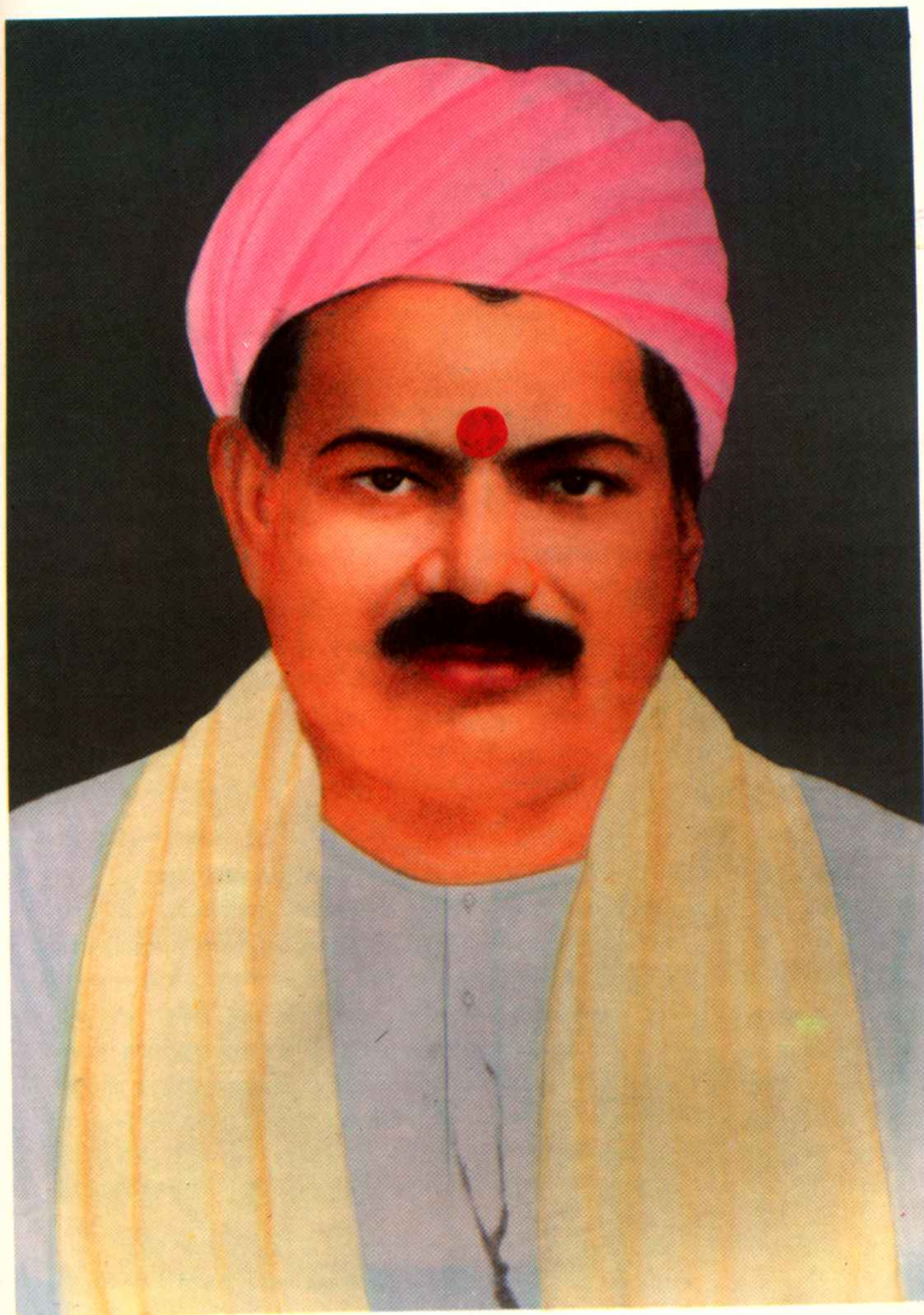
विषय	पृष्ठ संख्या
प्रथमोपदेशः—	
१–अस्ति हि देहभृत्यव्ययात्मनि जन्म-मरणद्वन्द्वाभावः ।	१
द्वितीयोपदेशः—	
२–अस्ति हि देहभृत्यव्ययात्मनि सुख-दुःखद्वन्द्वस्य संयोगजत्वेनागमापायित्वम्, तस्मात् समदुःख-सुखानुभाविनां भूतात्मनामव्ययात्मसाधर्म्यलाभादमृतत्वसम्पत्तिः ।	१५
तृतीयोपदेशः—	
३–(क) अस्ति हि देहभृत्यव्ययात्मनि सदसद्द्वन्द्वे असतः शरीरादेः कार्य्यस्य सत्त्वम् । सतस्तु कारणस्यात्मनोऽसत्त्वमनुपपन्नमिति विज्ञानसिद्धान्तः ।	३१
३–(ख) तस्मादस्य विकुर्वाणविनश्वरशरीरयोगिनोऽप्यात्मनो निर्विकारत्त्वादविनाशित्वाच्चानुशोकानौचित्यम् ।	४३
चतुर्थोपदेशः—	
४–(क) अपि चैतस्य विनश्वरशरीरयोगिनोऽप्यव्ययस्य जन्ममृत्युद्वन्द्वरहितत्वेन हननासम्भवादनुशोकानौचित्यम् ।	५१
४–(ख) अपि चैतस्मिन्नव्यये-महतोऽक्षरात्मनो मूर्तियोनित्वस्वाभाव्याच्छरीरविधरणपरित्यागलक्षणयोर्जन्ममरणयोः पौनःपुनिकत्वनियमादनुशोकानौचित्यम् ।	५७

विषय	पृष्ठ संख्या
पञ्चमोपदेशः—	
५–अपि चैतस्याव्ययात्मनः पञ्चभूतगुणाननुस्पृष्टत्वेन-विनाशासम्भवादनुशोकानौचित्यम् ।	६१
षष्ठोपदेशः—	
६–जन्ममरणवति भोक्तरि कर्म्मात्मनि जन्ममरणद्वन्द्वस्य प्रवाहनित्यत्वादपरिहार्य्यत्वाच्च शोकानौचित्यम् ।	६७
सप्तमोपदेशः—	
७–नित्यानित्ययोरसङ्गसङ्गिनोः सम्बन्धस्यानिर्वचनीयत्वात्, आश्चर्य्यमयत्वेऽपि आत्मावध्यत्वसिद्धान्तात्-शोकानौचित्यम् ।	७३
सांख्यनिष्ठा में नैतिक उपदेशः—	७९

ग्रन्थ में उद्धृत सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१–गीताविज्ञानभाष्य-मूलकाण्डम् (द्वितीय शीर्षककाण्ड)	[विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनओझा प्रणीत इलाहाबाद से मुद्रित संस्करण. वि० सं० १९९५]
२–ऋग्वेद संहिता	[बैदिक यन्त्रालय, अजमेर में मुद्रित संस्करण संवत् १९५७ वि०]
३–अथर्ववेद	" "
४–शतपथ ब्राह्मण (सम्पूर्ण)	" "
५–केनोपनिषत्	['उपनिषत्-संग्रह' - प्रकाशक–मोतीलाल-बनारसीदास संस्करण–सन् १९७० ई०]
६–कठोपनिषत्	" "
७-तैत्तिरीयोपनिषत्	" "
८–छान्दोग्योपनिषत्	" "
९-बृहदारण्यकोपनिषत्	" "
१०–श्वेताश्वतरोपनिषत्	" "
११–महानारायणोपनिषत्	" "
१२–कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्	" "
१३–महाभारत	[गणपत कृष्णाजी संस्करण शाके, १७८५ ई०]
१४–गीता	[गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा मुद्रित संस्करण]
१५–पातञ्जलयोगसूत्र	[निर्णयसागर प्रेस में मुद्रित, संस्करण, सन् १९१७]
१६–ब्रह्म सूत्र	[गोविन्द मठ, टेडीनीम, वाराणसी संस्करण वि० संवत् २०२२]
१७–सिद्धान्त कौमुदी	[निर्णयसागर प्रेस में मुद्रित संस्करण, सन् १८३७]





वेदवाचस्पति पं. मोतीलालजी शास्त्री
1908–1960

गीता–विषयविभाग

एवं

ग्रन्थ-परिचय

विद्यावाचस्पति, समीक्षा-चक्रवती पं० मधुसूदन ओझाजी ने गीता पर एक स्वतन्त्र भाष्य लिखा है। यह भाष्य चार काण्डों में विभक्त हुआ है। **रहस्य–शीर्षक–आचार्य्य–हृदय** भेद से काण्ड चतुष्टयात्मक इस भाष्य ने गीता के सम्बन्ध में एक अपूर्व युग ही उपस्थित कर दिया है। आज सर्वसाधारण में गीता के सम्बन्ध में **कर्म्म–भक्ति–ज्ञानयोग** को ही अधिक महत्त्व दिया जा रहा है, इसके विपरीत ओझाजी ने सर्वथा अपूर्व एवं एकान्तत रहस्यपूर्ण लुप्तप्राय बुद्धियोगसिद्धान्त स्थापित किया है।

गीता एक उपनिषत् नहीं है अपितु २४ उपनिषदों का संग्रहशास्त्र है, जैसा कि गीता के 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु' इस अध्यायोपसंहारवाक्य से स्पष्ट है। सम्पूर्णगीता में अव्यय के विद्याभाग से सम्बन्ध रखने वाली **राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या** इन चारों विद्याओं का क्रमशः (आरम्भ से ६–२–४–६ इस अध्यायक्रम से) निरूपण हुआ है एवं विद्याओं के साथ-साथ अव्ययात्मा के कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले राजर्षिविद्यानुगत **वैराग्य बुद्धियोग**, सिद्धविद्यानुगत **ज्ञानबुद्धियोग**, राजविद्यानुगत **ऐश्वर्यबुद्धियोग** एवं आर्षविद्यानुगत **धर्म्मबुद्धियोग** इन चार बुद्धियोगों का निरूपण हुआ है।

इन चारों विद्याओं में क्रमशः ८–२–३–७ इस क्रम से २० उपनिषदें, एक उपनिषत् चातुर्विद्योपक्रम में, तीन उपनिषदें चातुर्विद्योपसंहारप्रकरण में एवं सम्भूय गीता में २४ उपनिषदें प्रतिष्ठित हैं। एक उपनिषदात्मक उपक्रम प्रकरण में २ उपदेश, अष्टोपनिषदात्मिका राजर्षिविद्या में उपनिषत्क्रम से ७–७–७–३–३–५–९–सम्भूय ५० उपदेश, द्वयुपनिषदात्मिका सिद्धविद्या में उपनिषत्क्रम से १०–९ सम्भूय १९ उपदेश, त्र्युपनिषदात्मिका राजविद्या में उपनिषत्क्रम से ११–१५–६ सम्भूय ३२ उपदेश, सप्तोपनिषदात्मिका आर्षविद्या में उपनिषत्क्रम से ९–५–७–४–२०–२–२ सम्भूय ४९ उपदेश, त्र्युपनिषदात्मक उपसंहारप्रकरण में उपनिषत्क्रम से ४–२–२ सम्भूय ८ उपदेश, इस प्रकार सम्पूर्ण गीताशास्त्र की २४ उपनिषदों में १६० स्वतन्त्र उपदेश हुए हैं। इन ६ ओं प्रकरणों में गीता के ७०० श्लोक क्रमशः ६४–२१६–५८–१५१–१८९–२२–(१७+५) इस श्लोकक्रम में विभक्त हैं। यह तो हुआ पूज्य ओझाजी का गीता (चातुर्विद्या) सम्बन्धी विषयविभाग।

इन्हीं विषय-विभागों के आधार पर ओझाजी के प्रधान शिष्य पं० मोतीलाल शास्त्रीजी ने अपने स्वतन्त्र भाष्य लिखे हैं। इसी क्रम में उन्होंने राजर्षिविद्या पर भी भाष्य लिखा है।

राजर्षिविद्या नाम से प्रसिद्ध यह वैराग्यबुद्धिविद्या प्रधानरूप से आत्मस्वरूपवेत्ता किंवा औपनिषत्तत्त्ववेत्ता राजर्षियों में ही विशेष रूप से प्रचलित थी । देवयुग में अव्यय द्वारा इस विद्या का आविष्कार हुआ था । भगवान् कृष्ण ने (शरीरान्तर से) सर्वप्रथम विवस्वान् को ही इस वैराग्यविद्या का उपदेश दिया था, जैसा कि, 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्'[1] इत्यादि वचन से सिद्ध है । विवस्वान् यद्यपि राजा थे, सूर्य्यवंशियों के मूलप्रवर्त्तक थे, परन्तु इस भगवदुपदिष्ट वैराग्यविद्या के प्रभाव से उनका आत्मा ऋषि तुल्य बन गया था । आत्मतत्त्व का इन्होंने साक्षात्कार कर लिया था । वैदिक परिभाषानुसार तत्त्व-साक्षात्-कर्त्ता ही ऋषि कहलाता है, द्रष्टा ही ऋषि है । इसी लिए विवस्वान् राजा रहते हुए भी राजर्षि कहलाए । यही राजर्षि इस वैराग्यविद्या के सम्प्रदायप्रवर्त्तक हुए । जिन जिन सूर्य्यवंशी राजाओं ने इस विद्या का अनुमान किया वे मनु, इक्ष्वाकु, जनक आदि सब राजा राजर्षि की उपाधि से विभूषित हुए । इस प्रकार इन राजर्षियों के सम्प्रदाय में विशेषरूप से प्रतिष्ठित होने के कारण, साथ ही में इनके द्वारा ही लोक में प्रवृत्त होने के कारण इस भगवद्विद्या ने आगे जा कर **राजर्षिविद्या** नाम धारण कर लिया । इसी अभिप्राय से भगवान् ने एवं 'परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः'[2] कहा है ।

गीताप्रतिपादितबुद्धियोग 'वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म्म' भेद से चार भागों में विभक्त है, इन चारों बुद्धियोगों की प्राप्ति का उपाय बतलाने वाली चार ही विद्याएँ हैं । वैराग्यविद्या पहली विद्या है, यही राजर्षिविद्या है । इस विद्या के अभ्यास से बुद्धि से राग-द्वेषमूला आसक्ति निवृत्त हो जाती है, वैराग्य बुद्धियोग का बुद्धि में उदय हो जाता है एवं यही प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय भी है । राजर्षिविद्या से पूर्व में स्व० शास्त्रीजी के निर्देशानुसार चातुर्विद्यानामक एक स्वतन्त्र प्रकरण भी इसी ग्रन्थ के पूर्व में जोड़ा गया है । क्योंकि इसी प्रकरण से राजर्षिविद्या आदि चारों विद्याओं का उपक्रम माना गया है ।

—सम्पादक

१–इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।। (गीता ४।१)

२–गीता ४।२ ।

卐 विज्ञानगीतोक्रमः—

अथ चातुर्विद्योपक्रमः

तत्र

उत्थानिकोपनिषत् (लोकवृत्तोपनिषद्)–द्विसूत्री

—प्रथमं सूत्रम्—

१–संग्रामोपलक्षणविधया प्राकृतिकशोकसमुत्थानम्*

अर्जुन उवाच—

(१)–१–अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥[1]

सञ्जय उवाच—

(१)–२–एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥[2]

सञ्जय उवाच—

(१)–३–तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥[3]

[मूलानुवाद]–"१–हाय ! आज हम यह बडा भारी पाप करने के लिए उद्यत हो रहे हैं, जोकि राज्यसुख के लोभ से स्वजनों को मारने की तय्यारी कर रहे हैं ।"

卐 विद्यावाचस्पति पं० मधुसूदन ओझाजी ने विज्ञानगीतोपक्रमानुगत उत्थानिकोपनिषत् का समावेश ऐतिहासिकाऽध्याय के अन्तर्गत किया है परन्तु स्व० पं० मोतीलाल शास्त्रीजी के निर्देशानुसार इस विज्ञानगीता का उपक्रम राजर्षिविद्या प्रथमोपनिषत् के पहले (एवं साथ में) किया जा रहा है । (सं०)

* संग्राम के बहाने वेदव्यास अर्जुन के मुख से प्राकृतिक शोक का स्वरूप कहलवा रहे हैं । सबको ऐसे अवसरों पर इसी प्रकार शोक हुआ करता है ।

१ गीता १।४५ । २ गीता १।४७। ३ गीता २।१ ।

२–संजय (धृतराष्ट्र से) बोला–"(राजन् !) अर्जुन यह कहता हुआ संग्राम में रथ के धरातल पर बैठ गया तथा तूणी एवं स्धनुष को उतार कर शोकाकुलित बन गया।"

३–(सञ्जय कहने लगा)–"अर्जुन को इस प्रकार दयाभाव से युक्त देखकर, साथ ही में आँसू भरे हुई आँखों से देखते हुए विषाद प्रकट करते हुए देख कर मधुसूदन ने (निम्नलिखित) वचन कहे।"

[भाष्य]—पूर्वोक्त ऐतिहासिक प्रसङ्ग हमारे सामने अर्जुन के सम्बन्ध में एक बडी ही जटिल समस्या उपस्थित कर देता है। जिन बन्धुओं को देख कर अर्जुन के मन में शोक उत्पन्न हुआ, क्या परिस्थिति को देखते हुए यह शोक समीचीन माना जा सकता है? क्या अर्जुन को पहले से यह विदित न था कि मुझे अपने बन्धुजनों के साथ ही युद्ध करना है एवं उन्हीं का वध करना है? फिर सहसा अर्जुन में उक्त कातरभाव का उदय कैसे हो गया? अर्जुन जैसा वीर, धर्म्मात्मा पुरुष पहले से ही युद्धपरिणाम को भलीभांति जानता हुआ भी युद्धभूमि में उपस्थित होते ही इस प्रकार शोक करने लगे–यह अवश्य ही आश्चर्य की घटना है। हमें तो ऐसा मालूम होता है कि न तो युद्धावसर पर अर्जुन को शोक हुआ एवं न भगवान् ने गीता का उपदेश दिया। यह सब केवल व्यास की महिमा है। व्यास भगवान् ने अर्जुन को लक्ष्य बना कर श्रीकृष्ण के बहाने गीताशास्त्र का पीछे से अपने ऐतिहासिक ग्रन्थ (महाभारत) में समावेश कर दिया है, यही प्रतीत होता है। गीताशास्त्र की महत्ता को देखते हुए भी यही कल्पना समीचीन प्रतीत होती है। जहाँ दोनों सेनाएँ युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़ी हैं, साथ ही में दोनों पक्षों की ओर से शङ्खनाद द्वारा युद्धारम्भ का संकेत कर दिया हो, वहाँ इस प्रकार अर्जुन बडी लम्बी भूमिका में अपना शोक प्रकट करने लगे और भगवान् उसे वहीं लम्बा-चौड़ा उपदेश देने लगे। यही नहीं, बीच-बीच में अर्जुन सैकड़ों शङ्काएँ करे और भगवान् बडे विस्तार के साथ ज्ञानविज्ञान का रहस्य बतलाते हुए उसकी शङ्काओं का समाधान करने लगे–ये सभी बातें अटपटीसी मालूम होती हैं। गीताशास्त्र के देखने से तो यह मालूम होता है कि जैसे एक महाअरण्य में एक सद्गुरु के पास एक सत्शिष्य बडे अवधानपूर्वक पूर्ण मनन के साथ अध्यात्मशास्त्रसम्बन्धी जटिल प्रश्नों के सम्बन्ध में जिज्ञासा करता जा रहा है और गुरु बडे विचार के साथ शान्तिपूर्वक उसकी जिज्ञासा शान्त करते जा रहे हैं। जिस समराङ्गण में १८ अक्षौहिणी सेना युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़ी हो, जहाँ गजों का चिंघाड़, अश्वों की हिनहिनाहट, शङ्खों का तुमुलनाद, शस्त्रों की झंकारें, रणोन्मत्त योद्धाओं की प्रदीप्त वाणियाँ व्याप्त होकर कलकलनाद की जननी बन रही हों, ऐसे इस संकुलित अवसर पर भगवान् को कैसे उस **"अरतिर्जनसंसदि"** मूलक शान्त्युपदेश का अवसर मिला होगा? सचमुच यह विचित्रसी घटना है और इसी घटना के अनुयायी कितने एक सामान्य यथाजात मनुष्यों ने यह कल्पना भी कर डाली है कि न अर्जुन को शोक हुआ है, न भगवान् ने गीतोपदेश किया है। यह व्यास की या तो स्वतन्त्र रचना है अथवा पीछे से किसी कृष्णभक्त ने इस कथानक का इतिहासप्रकरण में समावेश कर दिया है।

कहना न होगा कि भारतीय-विज्ञान की गहनाटवी से अणुमात्र भी परिचय न रखने वाले मूढ़ ही ऐसी कल्पनाएँ किया करते हैं। अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी

लिया जाय कि गीता भगवान् की कही हुई नहीं है, न युद्धप्रसंग में गीतानाम के किसी उपदेश का अवसर ही आया। परन्तु ऐसा मान लेने से भी गीता के महत्त्व पर कौन-सा आघात हो गया–यह हमारी समझ में न आया। गीता एक साधारण आदमी की बनाई ही सही। इन बहिरंग समालोचनाओं से प्रज्वलित गीतासूर्य्य का किसी भी हालत में कोई भी व्यक्ति तिरस्कार करने की शक्ति नहीं रख सकता। गीता का वह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान हमें इसके लिए बाध्य कर देता है कि जिस किसी ने भी गीता का निर्माण किया है, वह मनुष्य नहीं हो सकता। वह अवश्य ही मनुष्यशरीर में नृत्य करता हुआ साक्षात् वेदान्तसिद्धान्त (औपनिषत्-पुरुष) है। वस्तुतस्तु इन सब बातों में कुछ भी सार नहीं है। युद्धावसर पर अवश्य ही अर्जुन को शोक हुआ है एवं भगवान् ने अवश्य ही उस जनकलरव में ही गीता का उपदेश दिया है; इसमें अणुमात्र भी सन्देह का अवसर नहीं है। उस भगवद्ज्ञान को व्यास ने ७०० श्लोकों में अपनी प्रज्वलित भाषा में उपनिबद्ध किया है। आप और हम सांसारिक धर्म्मों से आकुल हो सकते हैं। सदा-अच्युत भगवान् के सम्बन्ध में ऐसी कल्पनाएँ नहीं की जा सकतीं। यदि भगवान् की कृपा से जयद्रथवधसाधक सूर्य्यास्त असम्भव नहीं है तो युद्धभूमि में इतना लम्बा-चौडा उपदेश भी असम्भव नहीं है। फिर अर्जुन जैसा योग्य शिष्य, भगवान् शिक्षक, ऐसे लोकोत्तर गुरुशिष्यों के संवाद के सम्बन्ध में–**"इतनी देर में कैसे, क्या कहा होगा"**–साधारण मनुष्यसम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाली इन निःसार कल्पनाओं का अवसर ही नहीं आता। हाँ, इस सम्बन्ध में यह प्रश्न अवश्य ही उपस्थित होता है कि सम्पूर्ण परिस्थिति जब अर्जुन को पहले से मालूम थी, जब अर्जुन जानता था कि युद्ध करना क्षत्रिय का स्वधर्म्म है तो फिर एकाएक अर्जुन में यह मोह कैसे उत्पन्न हो गया? इस प्रश्न के समाधान के लिए ही प्रकृत प्रकरण का गीता में समावेश हुआ है।

यह ठीक है कि अर्जुन धर्म्मशास्त्र का रहस्य समझता है। यह भी ठीक है कि अर्जुन युद्ध के भावी परिणाम से भी परिचित है। यह भी ठीक है कि अर्जुन पहले से ही यह जानता था कि मुझे इस इस युद्ध में स्वजनों की हत्या करनी पड़ेगी। यह सब कुछ ठीक होने पर भी प्राकृतिक शोकसमुत्थान को अर्जुन जैसे रजोगुणी के लिए रोकना असम्भव था। अर्जुन योगी नहीं था, तपस्वी नहीं था, ज्ञानी नहीं था, था केवल सीधासाधा किंकर्त्तव्यपरायण गृहमेधी (गृहस्थी) क्षत्रिय। हम देखते हैं कि गृहमेधी बडे से बडा विद्वान् भी जो रात-दिन सबको उपदेश दिया करता है, अवसरप्राप्त शोक के वेग को सम्भालने में असमर्थ होता हुआ किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। **"किं कर्म्म, किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः"** से भगवान् ने इसी सहजसिद्ध मानवदुर्बलता का स्पष्टीकरण किया है। सर्वशास्त्रपारङ्गत, वीतराग व्यास तक के सम्बन्ध में-**"द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव"** यह सुना जाता है। अंशावतार मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम की लीला में भी सीतावियोगजनितशोकसमुद्गार उपलब्ध होते हैं। इससे मानना पड़ता है कि जहाँ भी शरीर का सम्बन्ध है, वहाँ अवश्य ही प्रकृतिसिद्ध शोक-हर्ष का समय-समय पर आक्रमण होता रहता है। जब तक शरीर है, तब तक इन शरीरधर्म्मों को रोकना कठिन है। हाँ, जो बुद्धिमान् होते हैं, वे विचलित नहीं होते, सामान्य जन विचलित हो जाते हैं। प्रकृति में त्रैगुण्य का साम्राज्य है। त्रिगुणप्रकृति की कृपा से हमारे बौद्धजगत् में भी त्रैगुण्यभाव उदित रहता है। हम इस संसार में रहने वाले संसार के एक साधारण छोटे से यन्त्र हैं। हमें उस महाविश्वयन्त्र के तन्त्र से संचालित रहना पड़ता है।

विश्वयन्त्र के आधिदैविक, आध्यात्मिक विवर्त्तों के सामने हमारा यह आध्यात्मिक यन्त्र न के बराबर है। साथ ही में तमोमूल विश्व में तमोमयी अविद्या का ही अधिक साम्राज्य है। ज्ञान के ज्ञान-अज्ञान-विरुद्ध-ज्ञान भेद से तीन विवर्त्त हैं। कर्म्म के कर्म्म-अकर्म्म-विकर्म्म तीन विवर्त्त हैं। इन छओं प्राकृतिक तन्त्रों में ज्ञान-कर्म्म सुख के संचालक हैं, शेष चारों दुःख के प्रवर्त्तक हैं। चूँकि विश्व में दुःखसामग्री अधिक है, अतः विशेषतः संसार में इसी का प्रभुत्व देखा जाता है। यही कारण है कि सुख की सतत कामना रखते हुए भी यह हमसे दूर भागता है। इधर सर्वथा अनिच्छित दुःख बिना निमन्त्रण के सदा ही हमारा पाहुना बना रहता है। संसार एक युद्धक्षेत्र है। इसमें बन्धुवर्ग ही एक प्रकार की सेना है। प्रत्येक प्राणी इस सेना से शाश्वतकाल से युद्ध करता चला आ रहा है। आपसी झगड़े, रोग, बन्धुवियोग, महामारी, भूकम्प इत्यादि परिणामों को विवश भोगते रहना जीव का जीवत्व है। इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार यदि बन्धुवर्ग को देख कर अर्जुन के हृदय में सहसा दयामूलक, दूसरे शब्दों में, रागमूलक शोक उमड़ पड़ता है तो इसमें कौन-सी आश्चर्य की बात है? अर्जुन ने सब कुछ समझते हुए शोक क्यों किया? इसका उत्तर उससे पूछिए जिसकी कृपा से शोक का उदय हुआ। प्रकृतिदेवी ही आपके उक्त प्रश्न का उत्तर देगी। अर्जुन ने शोक नहीं किया, प्रकृतिसिद्ध उत्पन्न शोक का अर्जुन ने अभिनयमात्र किया। भूख लगती है, भोजन कर लेते हैं। रुलास आती है, रो लेते हैं। हँसी आना चाहती है, हँस लेते हैं। हम कब भूख, रुलास, हँसी को निमन्त्रण देने जाते हैं। इन सहजसिद्ध प्राकृतिक नियमों को कौन रोक सकता है? अर्जुन की बात छोडो। प्रत्येक मनुष्य पद-पद पर इसी प्रकार शोकाकुल बनता रहता है। अन्तर यही है कि अर्जुन की उस परिस्थिति को सम्भालने वाले प्रकृतिन्त्राध्यक्ष यन्त्रायी भगवान् थे। सभी को तो भगवान् नहीं मिलते अथवा सभी को तो भगवद्वाणीरूप अतएव भगवद्भ्व्यगीताशास्त्र का सहारा नहीं मिलता। फलतः कितने मनुष्य इसी प्रकार शोकसागर में डूबे हुए अपनी लीला समाप्त कर देते हैं, इसकी गणना किसने की है? सभी मनुष्य किंकर्त्तव्यविमूढ बनते हुए सांसारिक युद्धक्षेत्र के भयानक परिणामों को देख कर—"अरे! हाय हाय! अब क्या होगा? हमने यह क्या कर डाला? क्या करने को उद्यत हो गए?—इस प्रकार शोकसंत्रस्तमानस बन जाते हैं। बस भगवान् व्यास ने प्रकृत प्रथमसूत्र प्रकरण से इसी स्वाभाविक शोक का दिग्दर्शन कराया है।

॥ १ ॥

—·—

—द्वितीयं सूत्रम्—

२–प्राकृतिकशोकव्युत्थानौपयिकचतुर्विधबुद्धियोग-विद्योपदेशोपक्रमः ।

श्रीभगवानुवाच—

१–कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्य्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।। (गीता २।२)

२–क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ।। (गीता २।३)

[**मूलानुवाद**]–"भगवान् कहने लगे–हे अर्जुन ! इस सङ्कट के समय तेरे मन में यह मोह कहाँ से उत्पन्न हो गया, जो कि मोह अनार्य्य मनुष्यों के सेवन करने योग्य है, जो स्वर्ग का विघातक है, जो अपयश पैदा कराने वाला है । हे पार्थ ! ऐसा कमजोर न बन । तुझे यह (तेरे जैसे वीर को ऐसा मोह) शोभा नहीं देता । इस कमजोरी को, हृदय की दुर्बलता को छोडकर हे परन्तप ! खड़ा हो जा ।"

वर्णाश्रमधर्म्म का अनुगम करने वाला आस्तिक वर्ग ही **"आर्य्य"** कहलाता है । आर्य्य वही कहलाता है जो घोर से घोर विपत्ति आने पर भी मोह में न पड़ता हुआ स्वकर्त्तव्य से च्युत नहीं होता है । जरा-जरा सी आपत्ति से घबराकर मोहवश किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाना अनार्य्य का धर्म्म हो सकता है । अनार्य्य ही ऐसे मोह को अपने पास आने देते हैं । अर्जुन ! तू आर्य्य है । भला फिर अनार्य्यों से सेवित इस मोह में तू कैसे पड़ रहा ? इसी मोह से मनुष्य शास्त्रविहितकर्म्म से च्युत होता हुआ स्वर्गसोपान के अधिकार से वञ्चित हो जाता है । इसी मोह से अपना अधिकारिक कर्म्म छोड़ते हुए मनुष्य संसार में अपयश के भागी बन जाते हैं । हम जानते हैं कि तू दयापरवश मोह में पडकर डांवाडोल हो गया है । परन्तु हमें कहना पड़ेगा कि यह तेरी कमजोरी है । अरे ! वीरपुरुष कभी ऐसी कमजोरी नहीं आने देते । छोड इस निर्बलता को, कर दे युद्ध आरम्भ ।

—२—

-----०-----

७–ऐतिहासिक श्लोक*

अर्जुन उवाच—

(१)

१–कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।[१]

२–गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ।।[२]

३–न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ।।[३]

४–कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।[४]

५–न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।[५]

सञ्जय उवाच—

(२)

६–एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।।[६]

७–तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।।[७]

---

* गीता दूसरे अध्याय के उक्त श्लोक ऐतिहासिक स्वीकार किए गये हैं । [सं०]

१ गीता २।४ । २ गीता २।५ । ३ गीता २।६ । ४ गीता २।७ ।
५ गीता २।८ । ६ गीता २।९ । ७ गीता २।१० ।

[**मूलानुवाद**]–"हे मधुसूदन ! हे शत्रुमर्दन ! सर्वथा पूजने योग्य ऐसे भीष्म एवं द्रोण को युद्ध में मैं बाणों से कैसे छेदूंगा ।।१।।

(अपने) गुरुजनों को, महानुभावों को न मारता हुआ मैं इस लोक में भिक्षा का अन्न खाना ही कहीं उत्तम समझता हूं । परन्तु कौरवों के अर्थपाश में बंधे हुए इन गुरुजनों का वध करके रुधिर से सने हुए इन राजभोगों को (इसी लोक में रहता हुआ) मैं कैसे भोग सकूंगा" ।।२।।

दुर्य्योधनादि हमें जीत लें अथवा हम उन्हें जीत लें–इन दोनों पक्षों में कौन-सा पक्ष उत्तम है, इस सम्बन्ध में (इस समय) मुझे कुछ सुझाई नहीं पड़ता । जिन (बन्धुओं) को मारकर हम (कभी) जीने की इच्छा नहीं कर सकते, वे ही ये कौरव (मरने मारने के लिए) युद्ध में सम्मुख खड़े हुए हैं ।।३।।

(अविद्याजनितशोक से उत्पन्न बुद्धिविकासाभावरूप) कृपणतादोष से मेरा (मेरी बुद्धि का) स्वाभाविक (विद्यात्मक) भाव नष्ट हो गया है । (इसीलिए) किंकर्त्तव्यविमूढ बना हुआ मैं आपसे पूछ रहा हूं । जो सर्वथा निश्चित उत्तम मार्ग हो, वही आप मेरे लिए कहिए । मैं आपका शिष्य हूं । मुझ शरणागत को (इस मोह से छुड़ाते हुए) सत्पथ पर लाइए" ।।४।।

(इस) धरातल पर निष्कण्टक एवं सुसमृद्ध राज्य एवं देवताओं के आधिपत्यपद (ऐन्द्रपद) को प्राप्त करके भी मैं ऐसी कोई वस्तु नहीं देखता, जो इन इन्द्रियों को दग्ध करने वाले मेरे इस शोक को दूर करे ।।५।।

सञ्जय कहने लगा–परन्तप अर्जुन इस प्रकार (उक्त शब्दों में अपना शोक प्रकट करते हुए) "मैं युद्ध न करूंगा" गोविन्द के प्रति अपना यह अन्तिम निश्चय प्रकट कर चुप हो गया ।।६।।

हे भरतवंशज भारत ! (धृतराष्ट्र !) दोनों सेनाओं के बीच में उक्त प्रकार से विषाद को प्राप्त होने वाले अर्जुन से भगवान् ने हँसते हुए निम्नलिखित वचन कहे ।।७।।

।। इति विज्ञानगीतोपक्रमः ।।

—०—

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः

अथ राजर्षिविद्या

सैषा—वैराग्यबुद्धियोगलक्षण-भगवद्विद्या, सनातनविद्या, वैराग्यविद्या

उत्थानिकोपनिषत् एवं तदन्तर्गत दोनों उपदेश समाप्त हुए। अब क्रमप्राप्त **राजर्षिविद्या** आरम्भ होती है। पूर्वप्रदर्शित विषय-विभाग के अनुसार[1] राजर्षिविद्या में ८ निवित् हैं, आठ निविदों के ८ ही उपनिषत् हैं प्रत्येक उपनिषत् में उपनिषत्विषयप्रकारप्रदर्शनरूप क्रमशः १-(७), २-(७), ३-(७), ४-(३), ५-(३), ६-(५), ७-(६), ८-(६)[2]-इस क्रम से आठ उपनिषदों के ५० उपदेश हैं। राजर्षिविद्या का मुख्य विषय है-"**रागद्वेषजनित आसक्तिभाव से युक्त मनोमयीबुद्धि के अविद्यावरण से कलुषित अव्ययात्मा को विशुद्धरूप में परिणत करने के लिए वैराग्यलक्षण विद्याभाव का बुद्धि में युक्त करते हुए वैराग्यबुद्धियोगलक्षण समत्वयोग की प्राप्ति का उपाय बतलाना**"। केवल इसी विषय की सिद्धि के लिए भगवान् ने आठ विषयों का आठ उपनिषदों द्वारा एवं ५० उपदेशों द्वारा प्रतिपादन किया है। स्वतन्त्र विषय को वैदिकभाषा में **निवित्** कहा जाता है। **ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैश्वदेवनिवित्, देवतानिवित्, भूतनिवित्, आत्मनिवित्**-भेद से अनेक निवित् हैं। निवेदनभाव ही निवित् है। विषय प्रतिपादन ही निवित् है। इस निवित्रूप विषय का मौलिक सिद्धान्त ही उपनिषत् है। भगवान् ने आठ निवित् (विषय) बतलाते हुए, उन आठों की उपनिषदें (मौलिक सिद्धान्त) बतलाए हैं। इन सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए ५० उपदेश कहे हैं। विषयसङ्गति के लिए राजर्षिविद्या के आरम्भ में उन आठ उपनिषदों का दिग्दर्शन करा देना आवश्यक होगा। हम यह कहने में जरा भी संकोच का अनुभव नहीं करते कि बिना विषयविभाग को यथावत् हृदयङ्गम किए **गीता** के वास्तविक मौलिकरहस्य को यथावत् जान लेना कठिन ही नहीं, अपि तु सर्वथा असम्भव है। यदि गीताप्रतिपादित केवल विभक्त विषयों की तालिका पर ही पाठक अवधानपूर्वक दृष्टि डालेंगे तो बिना किसी भाष्य का आश्रय लिए ही उनके सामने **गीताहृदय** अपने वास्तविकरूप से उपस्थित हो जायगा।

१-राजर्षिविद्या में प्रतिपादित ८ उपनिषदों का परिलेख—

१-ज्ञानयोगनिष्ठायामनुशोकानौचित्योपनिषत्—
(गीता २।११ से २३० पर्यन्त एवं २।३१ से २।३८ तक)।

२-बुद्धियोगनिष्ठायामनुशोकानौचित्योपनिषत्— (गीता २।३९ से २।७२ पर्यन्त)।

---

१ द्रष्टव्य स्व० शास्त्रीजी कृत गीताहिन्दीविज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड।

२ कोष्ठक के अन्दर उपदेशसंख्या एवं बाहर उपनिषत्संख्या है।

३–स्वभावसिद्धसहजकर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषत्—(गीता ३।१ से ३।३२ पर्य्यन्त)।

४–बुद्धियोगप्रतिबन्धककर्म्मपरित्यागौचित्योपनिषत्—(गीता ३।३३ से ३।४३ पर्य्यन्त)।

५–बुद्धियोगनिष्ठायाः सनातनत्वोपनिषत्—(गीता ४।१ से ४।६ पर्य्यन्त)।

६–बुद्धियोगाविरोधिकर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषत्—(गीता ४।१० से ४।४२ पर्य्यन्त)।

७–बुद्धियोगस्य ज्ञानकर्म्मोभयात्मकत्वोपनिषत्—(गीता ५।१ से ६।६ पर्य्यन्त)।

८–बुद्धियोगसिद्ध्यर्थं कर्म्मावश्यकर्त्तव्यत्वोपनिषत्—(गीता ६।१० से षष्ठाध्याय पर्य्यन्त)।

—०—

१–सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण सांख्यनिष्ठापरपर्य्यायक **ज्ञानयोगनिष्ठा** में आरूढ रहने वाले ज्ञानयोगी को भी सांसारिक कर्म्मों से सम्बन्ध रखने वाले शोक का परित्याग करते हुए कर्म्म करना ही चाहिए।

२–कामासक्तिपरित्यागलक्षण बुद्धियोगनिष्ठ **योगी** को भी सांसारिक कर्म्मों से सम्बन्ध रखने वाले शोक का परित्याग करते हुए निष्कामकर्म्म में प्रवृत्त रहना चाहिए।

३–रागद्वेषशून्य सहजसिद्ध स्वस्ववर्णानुकूल कर्म्मों में सतत् प्रवृत्त रहता हुआ भी **कर्म्मयोगी** सर्वथा निवृत्त ही है। फलतः उसे निवृत्तिलक्षण अतएव सर्वथा अबन्धन सहजकर्म्म का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए।

४–राग-द्वेषमूलक अतएव आसक्तिभाव के जनक अतएव बुद्धियोग के प्रतिबन्धक जितने भी कर्म्म हैं, उन्हें प्रत्येक दशा में छोड़ देना चाहिए।

५–बुद्धियोगनिष्ठा के उपोद्वलक अनासक्तकर्म्म अवश्य ही करने चाहिए, क्योंकि यह सनातन (नित्य) कर्म्म हैं। अतएव इनका किसी भी दशा में परित्याग सम्भव नहीं है।

६–जो कर्म्म बुद्धियोग पर कोई आघात नहीं करते एवं साथ ही में बुद्धियोग के जिन अविरोधी कर्म्मों के अनुष्ठान से लौकिकमर्य्यादा की रक्षा होती है, ऐसे कर्म्मों का परित्याग भी नहीं करना चाहिए।

७–**बुद्धियोग–ज्ञान–भक्ति–कर्म्म** इन तीनों योगों की अपेक्षा ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है। कारण इसमें ज्ञान-कर्म्म दोनों का समन्वय है।

८–बुद्धियोगनिष्ठा की प्राप्ति के लिए अवश्य ही सतत कर्म्म करते रहना चाहिए।

——०——

अयमत्र संग्रहः—

१–**"कृत्स्नकर्म्मविप्रमोक्षो मोक्षः"** (तत्त्वार्थसूत्रम् जै० द०) इति हि तावत्-आर्हता मोक्षलक्षणं पश्यन्ति। तथैवास्तिकदर्शनेष्वपि ज्ञानयोगिनः सर्वकर्म्मात्यन्तविनिवृत्तावेवात्मनो मुक्तिं पश्यन्ति। सैषा-ज्ञानयोगिनां कृते ज्ञाननिष्ठा वा सांख्यनिष्ठा वा प्रथमा। अन्ये च कर्म्मानुयायिनः कर्म्मठाः सतत-कर्म्मानुष्ठानमेवात्मनः परमपुरुषार्थं मन्वानाः सर्वकर्म्मपरिग्रहलक्षणं कर्म्मयोगमेव स्वीकुर्वन्ति। सैषा कर्म्मयोगिनां कृते कर्म्मनिष्ठा वा योगनिष्ठा वा द्वितीया। तथा चाहुर्गीताचार्याः—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनाम्॥ इति।[1]

लोकवृत्तरक्षकः सञ्चालकश्च भगवान् श्रीकृष्णः सम्बोधयति गाण्डीवधन्वानमर्जुनं–अर्जुन ! उभयोर्मार्गयोः कस्मिन् मार्गे तव निष्ठा (विश्वासः) ? ज्ञानयोगे चेत्, तर्ह्यपि कर्म्मपरित्यागानौचित्यम्। कपिलादिभिर्हि यदुक्तं सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षणं संन्यासस्य, तत्तु न समीचीनम्। ज्ञानवत्कर्म्मणोऽपि-आत्मस्वरूपत्वेनाभियुक्तैः परिगृहीतत्वात्। तथा च कर्म्मपरित्यागाशक्यत्वात्, अवश्यमेव ज्ञानयोगपक्षेऽपि कर्म्मपरित्यागोऽनुचितः। अनुचितश्च द्वन्द्वभावोत्पन्नशोकसंवादः।

—०—

२–कामासक्तिपरित्यागलक्षणो बुद्धियोगः। एवं यदि मन्यसे, तदापि कर्म्मपरित्यागानौचित्यम्। कामनापरित्यागे कर्म्मणां संस्काराजनकत्वात्। कर्म्मणां तु स्वस्वरूपेण सर्वथा बन्धनत्वात्, संस्काराणामेव च बन्धनमूलत्वमाहुर्वैज्ञानिकाः।

—०—

३–ननु कर्म्मणामवश्यमेव संस्कारजनकत्वेनावश्यं तत्प्रवृत्तौ बन्धनं भविष्यतीतिचेत्-शृणु ! रागद्वेषविरहितेषु स्वस्वपर्णानुकूलसहजसिद्धकर्म्मसु सततं प्रवृत्तोऽपि त्वं पुष्करपलाशवन्निर्लिप्त एव। रागद्वेषमूलासक्तिरेव संस्काराणां जननी। एवञ्चावश्यमेवानासक्तो भूत्वा नियतानि कर्म्माणि कुरु। एवं सति न लोकसंग्रहभंगः, नापिस्वधर्म्मच्युतिः।

—०—

४–इदं त्ववधेयम्–यानि कर्म्माणि रागद्वेषमूलानि, तानि त्वासक्तेर्जनकानीति बुद्धियोगविघातकानि प्रत्येतव्यानि। तान्यवश्यमेव त्याज्यानि। तेषामासक्तिजनकत्वे सति बन्धनजनकत्वात्।

—०—

१ गीता ३।३।

५–बुद्धियोगोपोद्बलकानि तु कर्म्माणि नित्यानि, सनातनानीति तान्यवश्यमेव कर्त्तव्यानि । तेषामेषां-नित्यानां कर्म्मणामबन्धनत्वात् ।

—o—

६–बुद्धियोगानुकूलानि लोकसंग्राहकाणि कर्म्मण्यवश्यमेव कर्त्तव्यानि ।

—o—

७–ज्ञान-भक्ति-कर्म्मसंज्ञकानां त्रयाणामपियोगानामपेक्षया बुद्धियोग एव सर्वज्येष्ठः, सर्वश्रेष्ठश्च । यतो ह्यत्र योगे कामनापरित्यागात् त्यागलक्षणज्ञानयोगस्यापि समावेशः, कर्म्मपरिग्रहात् परिग्रह-लक्षणकर्म्मयोगस्यापि संग्रहः । उभयोः संग्रहादेवास्य बुद्धियोगस्य पूर्णत्वमन्येभ्यः श्रेष्ठत्वं, ज्येष्ठत्वं च ।

—o—

८–अवश्यं च बुद्धियोगसिद्धर्थं कर्म्म कर्त्तव्यम् । बुद्धियोगसिद्धयर्थं क्रियमाणं यत् काम्यं कर्म्म, तत्तु कतकरजोवत् निष्काममेव । बुद्धियोगो विद्यामयः । **"तदर्थं कर्म्म कौन्तेय ! मुक्तसंगः समाचर"** ।

—o—

अथ

प्रथमा राजर्षिविद्या

अस्याः

प्रथमा ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषत्
(सप्तोपदेशी) प्रारभ्यते

अथ-राजर्षिविद्यायाम्

१-ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषत्-प्रथमा तत्र प्रथमायामस्यामुपनिषदि-

प्रथमोपदेशः

१-अस्ति हि देहभृत्यव्ययात्मनि जन्ममरणद्वन्द्वाभावः।*

श्री भगवानुवाच —

१-अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।। (गीता २।११)

२-न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।। (गीता २।१२)

३-देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।। (गीता २।१३)

[मूलानुवाद] "जिनका शोक नहीं करना चाहिए, उनका (तो) तू शोक कर रहा है, साथ ही में पण्डिताई की बातें बखान रहा है । मरे हुए एवं न मरे हुए व्यक्तियों का पण्डित लोग शोक नहीं किया करते ।। १ ।। मैं, तू, युद्ध में समुपस्थित ये राजा लोग और सब प्राणी पहिले कभी न थे एवं भविष्य में न रहेंगे–यह बात सर्वथा मिथ्या है । अर्थात् आत्मतत्त्व त्रिकाल में अविनाशी है ।। २ ।। जिस प्रकार इस शरीर में आत्मा की बचपन, जवानी, बुढापा आदि अनेक अवस्थाएँ हुआ करती हैं, एवमेव आत्मा नवीन शरीर धारण कर लेता है । धीर पुरुष इन शरीरों के परिवर्त्तन से कभी मोह नहीं करता ।। ३ ।।

[भाष्य] युद्ध में समुपस्थित पिता, पितामह, भ्राता, मातुल, श्वसुर, सखा आदि बन्धु-बान्धवों को देखकर अर्जुन के हृदय में शोक उत्पन्न हुआ । अर्जुन सांसारिक मनुष्य था एवं सांसारिक मनुष्यों

---

* देह धारण करने वाले अव्ययात्मा में जन्म-मृत्यु लक्षण द्वन्द्व का सर्वथा अभाव है ।

में समय-समय पर इसी प्रकार शोक का उदित होना स्वाभाविक है, जैसाकि पूर्व में बतलाया जा चुका है। उस स्वाभाविक शोक को निवृत्त करने के लिए भगवान् ने अर्जुन के सामने आत्मा का वास्तविक स्वरूप रक्खा है।

पहिले इस बात का विचार करना आवश्यक होगा कि अर्जुन के शोकोदय की **उपनिषत्** क्या है? जब आत्मा सर्वथा असंग है, उसके साथ जब **सुख-दुःख, पुण्य-पाप, राग-द्वेष, अनुकूल-प्रतिकूल, शीत-आतप,** आदि द्वन्द्वभावों का सम्बन्ध ही असंभव है तो द्वन्द्वमूलक शोक का उदय उसमें कैसे सम्भव है? इस प्रश्न की मीमांसा के लिए सबसे पहिले हमें आत्मस्वरूप का विचार करना होगा। यों तो आत्मा के अनेक विवर्त्त हैं। उन सब का प्रकृत में निदर्शन नहीं कराया जा सकता। यहाँ केवल उन दो आत्माओं की ओर ही पाठकों का विशेषरूप से ध्यान आकर्षित कराया जाता है, जो कि दोनों आत्मा क्रमशः शोक एवं शोक के अभाव की मूलप्रतिष्ठा हैं। वे दोनों आत्मा **आत्मविज्ञानशास्त्र** (उपनिषच्छास्त्र) के अनुसार **परमात्मा** एवं **कर्म्मात्मा** नाम से प्रसिद्ध हैं।

इन दोनों में परमात्मा सर्वथा **निर्द्वन्द्व** ही है, कर्म्मात्मा सर्वथा **द्वन्द्ववान्** ही है। निर्द्वन्द्व परमात्मा ही कतिपय परिग्रहों के कारण द्वन्द्वभाव में परिणत होता हुआ अंशरूप से कर्म्मात्मा बन जाता है। इसी कर्म्मात्मा को **"भोक्तात्मा"** कहा जाता है। **भोग** शब्द से आज विद्वान् लोग सुख-दुःख-पाप-पुण्यादि का आत्मा के साथ भोग मानते हैं। विज्ञान-दृष्टि से भोग शब्द का उक्त अर्थ नितान्त असंगत है। आत्मा स्फटिकशिला की तरह सर्वथा निर्लेप है, ज्ञानमय होने से सर्वथा असंग है। उसके साथ सुख-दुःख का भोगरूप लेप कथमपि सम्भव नहीं है। एक आदर्श (काच) पर मार्ग में आते जाते पशु-पक्षि-मनुष्य आदि के विविध प्रकार के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। यह ठीक है कि ये सब प्रतिबिम्ब हमें काच के धरातल के साथ संयुक्त प्रतीत होते हैं। परन्तु जरा सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर हमें यह मानलेना पड़ता है कि आगत प्रतिबिम्बों का उस आदर्श-धरातल के साथ अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि एक ही धरातल पर नवीन-नवीन कई प्रतिबिम्ब आते रहते हैं, जाते रहते हैं। यदि वहाँ प्रतिबिम्बों का लेप हो जाता तो अन्य प्रतिबिम्ब कभी उस पर प्रतिबिम्बित न होते। साथ ही में जिनके प्रतिबिम्ब एकबार आ जाते, वे सदा ही आदर्श पर रह जाते। परन्तु हम देखते हैं कि जिस वस्तु के द्वारा प्रतिबिम्ब का आगमन होता है, उस वस्तु के हटते ही प्रतिबिम्ब तिरोहित हो जाता है। फलतः आगमापायी प्रतिबिम्बों के साथ प्रतिबिम्बग्राहक आदर्श की निर्लेपता भली-भाँति सिद्ध हो जाती है। यही अवस्था आदर्शस्थानीय निर्लेप आत्मा की समझनी चाहिए।

"अन्य वस्तु का अन्य के उदर में चले जाना" बस भोग-शब्द का यही तात्पर्य्यार्थ है। चिक्कण भित्ति पर, पानी में, आदर्श में, स्फटिकशिला में सूर्य्यप्रतिबिम्ब प्रविष्ट हो जाता है। यही सूर्य्य प्रतिबिम्ब की उदरभुक्ति है। इसी का नाम भोग है। भोग शब्द यहीं कृतार्थ है। भुक्त प्रतिबिम्ब भित्ति पानी-आदर्श-स्फटिकशिला में कोई अपूर्वभाव उत्पन्न कर देता है अथवा वह प्रतिबिम्ब इनमें संसक्त हो जाता है-यह बात सर्वथा अशुद्ध है। इन्द्रियों के द्वारा मन से गृहीत विषय बुद्धि पर आते हैं। बुद्धि आत्मा के साथ नित्ययुक्त है। फलतः बुद्धि-आकार से आकारित विषय प्रतिबिम्बरूप से आत्मधरातल

पर भी प्रतिबिम्बित हो जाते है-यही आत्मा का भोग है। वह उन प्रतिबिम्बों के रहते हुए भी स्वस्वरूप से सर्वथा निर्लेप है। ऐसा निर्लिप्त विशुद्ध आत्मा स्वस्वरूप से सर्वथा व्यापक है। यदि विषय-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-इन चारों उपाधियों से पृथक् करके आत्मा के स्वरूप का विचार किया जाएगा तो वह सर्वथा व्यापक मिलेगा। स्वयं आत्मा भी तो व्यापक चिदात्मा का ही प्रतिबिम्ब है। मन-बुद्धि ही प्रतिबिम्ब ग्राहक है। यदि इन ग्राहकों को पृथक् करके विशुद्ध आत्मा पर दृष्टि डाली जाती है तो उसकी व्यापकता के दर्शन हो जाते है। यही विशुद्ध आत्मा निर्गुण निर्लेप-सर्वव्यापक परमात्मा है, जैसाकि-"**महान्तं विभुमात्मानं मत्त्वा धीरो न शोचति**" इत्यादि वर्णन से स्पष्ट है।

उक्त परमात्मा आपामर आविद्वज्जन, आबालवृद्ध, स्थावर-जंगम सर्वत्र समानरूप से व्याप्त है। यह सब विशेषों में अविशेषरूप से रहता है, परस्पर में सर्वथा विभक्त पदार्थों में यह अविभक्त रहता है। ब्राह्मण-शूद्र-क्षत्रिय-वैश्य-पापात्मा-पुण्यात्मा-म्लेच्छ-दस्यु आदि सब में समानरूप से यह प्रतिष्ठित है। परमात्मा की इसी सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

१–एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रचया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१॥[1]

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्म्मणा नो कनीयान्।
तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्म्मणा पापकेन ॥२॥[2]

२–स वाऽअयमात्मा सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः, सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च। स न साधुना कर्म्मणा भूयान्, नोऽएवासाधुना कनीयान्। एष लोकेश्वरः। एष लोकपालः। स सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय।[2]

३–स एष नेति नेत्यात्मा। अगृह्यो न हि गृह्यते, अशीर्यो न हि शीर्य्यते, असङ्गोऽसितो न सज्यते न व्यथते-इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे (पापपुण्ये) ह्येष तरति-अमृतः साध्वसाधुनी। नैनं कृताकृते तपतः। नास्य केनचन कर्म्मणा लोको मीयते।[2]

४–तद्वाऽअस्यैतत्-अतिच्छन्दोऽपहतपाप्माऽभयं रूपमशोकान्तरम्। अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोका, देवा अदेवा, वेदा अवेदा, यज्ञा अयज्ञाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति, भ्रूणहा-अभ्रूणहा, पौल्कसोऽ-

१ कठोप० १।३।१२।
२ द्रष्टव्य बृ०आ०उप० ४।४।

पौल्कसः, चाण्डालोऽचाण्डालः, श्रमणोऽश्रमणः, तापसोऽतापसः, अनन्वागतः पुण्येन-अनन्वागतः पापेन । तीर्णो हि तदा सर्वान्-शोकान् । +++++ । सलिल एको द्रष्टा ऽद्वैतो भवति । एषास्य परमा सम्पत् । एषोऽस्य परमो लोकः । एषोऽस्य परम आनन्दः । एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रा-मुपजीवन्ति ।[1]

पूर्व में बतलाया जा चुका है कि व्यापक परमात्मा ही योगमाया की कृपा से सपरिग्रह बनता हुआ कर्म्मात्मा, किंवा **शारीर आत्मा** रूप में परिणत हो जाता है । यही इसका पाप्मायुक्त परिच्छिन्नरूप है । परमात्मा जहाँ सब में समान रहता हुआ **निर्विशेष** है, वहाँ यह भूतात्मा किंवा कर्म्मात्मा विशेष धर्म्मों से आक्रान्त होता हुआ **विशेष** है । परमात्मविभूति के कारण जहाँ सर्वत्र सब भूतों में **"स एवायं-स एवायं"** यह प्रत्यभिज्ञा होती है, वहाँ प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न इस विशेष आत्मा के कारण- **"अन्योऽय-मन्योऽयम्"** यह प्रत्यभिज्ञा होती है । लोक में दोनों निष्ठाएँ प्रत्यक्ष देखी जाती हैं । **"राजा-राव-रंक-सब-समान हैं, सब के वैसा ही शरीर है, सब को उसी रास्ते जाना है,"** यह समान व्यवहार भी लोक में देखा जाता है । साथ ही में **"यह ब्राह्मण है, यह ब्रह्मर्षि है, यह क्षत्रिय है, यह राजा है, यह योगी है, यह वैश्य है, यह धनिक है, यह निर्धन है, यह शूद्र है, यह म्लेच्छ है"** इस प्रकार के विशेषभाव भी देखे जाते हैं । इन दोनों विरुद्ध भावों की प्रतिष्ठा क्रमशः व्यापक परमात्मा एवं परिच्छिन्न भोक्तात्मा ही है । इन्द्रियादिवर्ग से युक्त वही भोक्तात्मा है, इन्द्रियादिवर्गरहित वही परमात्मा है । इन्द्रियधर्म्म सब के समान नहीं होते । फलतः इन्द्रियों के योग्यतातारतम्य से भोक्तात्मा में तारतम्य माना जाने लगता है । यही परिकरवर्ग विशेषभाव के जनक हैं । एक साधारण कुल में उत्पन्न सामान्य व्यक्ति अपनी विशेष योग्यता से विश्व का आदरणीय बन जाता है, उधर एक असाधारण कुल में उत्पन्न व्यक्ति योग्यता विरह से निन्दनीय बन जाता है । ठीक इसी प्रकार परिग्रहागमन से वही आत्मा भूतात्मा बन जाता है । परिग्रहत्यागबुद्धि से वही भूतात्मा परमात्मस्वरूप में परिणत हो जाता है । सम्पूर्णविश्व कर्म्मात्मा का वैभव है एवं विश्व और विश्वातीत परमात्मा के अधिकार में है ।

तात्पर्य्य कहने का यह है कि विश्वान्तर्गत मनुष्यमात्र स्वभावतः भूतात्मारूपभूत से आविष्ट रहते हुए स्वस्वरूप (परमात्मस्वरूप) को भूले हुए हैं । कारण इसका यही है कि मनुष्य (मनुष्योप-लक्षित पदार्थमात्र) की उत्पत्ति का मूलकारण **द्वन्द्वभाव** है । परमात्मतत्त्व का जहाँ अभियुक्त लोग– **"निर्द्वन्द्वत्वं परमात्मत्त्वम्"** यह लक्षण करते है, वहाँ कर्म्मात्मतत्त्व के १–**"सदसद्द्वन्द्व-योगतत्वं भूतात्मत्वम्"** २–**"द्वन्द्वधर्म्मित्वं वा भूतात्मत्वम्"** ये लक्षण किए जाते हैं । कर्म्मात्मा का उदय (उत्पत्ति) भी द्वन्द्वभाव से ही हुआ है, एवं उत्पन्न होने के पश्चात् भी कर्म्मात्मा द्वन्द्वभावों से ही आक्रान्त रहता है । प्रथमलक्षण उत्पत्तिसृष्ट द्वन्द्वभाव का निरूपण करता है एवं द्वितीयलक्षण उत्पन्नसृष्ट द्वन्द्वभाव का

१ द्रष्टव्य बृ०आ०उप० ४।३।२२,३२ ।

दिग्दर्शन कराता है। द्वन्द्वभाव को **मूलद्वन्द्व**, **तूलद्वन्द्व** दो भागों में विभक्त करके देखिए। **सदसद्द्वन्द्व** मूलद्वन्द्व है। विश्वान्तर्गत **जय-पराजय**, **हानि-लाभ**, **पाप-पुण्य**, **सुख-दुःख**, **आत्मा-शरीर**, **सत्य-मिथ्या**, **अहः-रात्रि**, **एक-अनेक**, **शुक्ल-कृष्ण**, **विषय-विषयी**, **तमः-प्रकाश**, **पिता-पुत्र**, **पति-पत्नी**, **मित्र-शत्रु**, **भगिनी-भ्राता**, आदि असंख्य जितने भी द्वन्द्वभाव हैं, उन सब की समष्टि "तूलद्वन्द्व" नाम से व्यवहृत की जाती है। कारण इसका यही है कि मूलद्वन्द्व ही इन सब विश्वद्वन्द्वों के उदय का कारण है। **मूलद्वन्द्व** का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि कहते हैं—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥[1]

आत्मा विशुद्ध सद्रूप है। असत् का इसके गर्भ में आत्यन्तिकलय है। विशुद्ध सद्रूप होने से ही यह आत्मा एकनियति रहता हुआ निर्द्वन्द्व है। इस निर्द्वन्द्व सदात्मा के साथ सर्वथा असद् (बलात्मक शरीर) जो पहिले न था, न कालान्तर में रहेगा) का सम्बन्ध हो जाना, दूसरे-शब्दों में आत्मा का शरीर-त्रयी से युक्त हो जाना ही इसका द्वन्द्वभाव है। यही द्वन्द्वभाव मूलद्वन्द्व है। जब तक सत्-असत् की ग्रन्थि-रूप यह मूलद्वन्द्व रहता है—तभी तक इतर सांसारिक तूलद्वन्द्वों को आक्रमण करने का अवसर मिलता है। सदसद्रूप मूलद्वन्द्व की प्रधान भूमिका है-विद्या-कर्म। पूर्वप्रज्ञा विद्या है, सांस्कारिक कर्म्म-कर्म्म है। इस प्रज्ञा-कर्म्मरूप शुक्रात्मक द्वन्द्व से युक्त शुक्रावच्छिन्न आत्मा ही औपपातिक आत्मा कहलाता है। माता के शोणित, पिता के शुक्र-इन दोनों की समष्टि (मिथुन भाव) रूप द्वन्द्व में यह औपपातिक आत्मा प्रविष्ट होकर-स्थूल शरीर से युक्त होता है। इस प्रकार सत्-असत् रूप प्रथम द्वन्द्व, पूर्वप्रज्ञा-कर्म्मरूप द्वितीयद्वन्द्व, एवं शुक्रशोणितरूप तृतीयद्वन्द्व-इन तीन द्वन्द्वों की समष्टि से-प्राणी धरातल पर अवतीर्ण होता है। इन तीनों की समष्टि को ही हम मूलद्वन्द्व कहने के लिए तय्यार हैं। क्योंकि सांसारिक तूलद्वन्द्वों के मूल ये ही तीन द्वन्द्व हैं। इन तीनों मूलद्वन्द्वों के साथ क्रमशः**कारण–लिङ्ग**, स्थूलशरीरों का सम्बन्ध है। सदसद्रूप प्रथम द्वन्द्व कारणशरीर का जनक है। प्रज्ञाकर्म्मरूप द्वितीयद्वन्द्व लिङ्गशरीर का जनक है एवं शुक्रशोणितरूप तृतीयद्वन्द्व स्थूलशरीर का उपादान है। जब तक कामना का विनाश नहीं होता, तब तक शुक्रात्मक सदसद्द्वन्द्व का अतिवर्तन नही होता। क्यों कि–'**कामस्तदग्रे**' इत्यादि के अनुसार सद-सद्द्वन्द्व का आरम्भ कामभाव ही है, जैसा कि–'**उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः** इत्यादि से भी स्पष्ट है। कामनापरित्याग से हृद्ग्रन्थिप्रवर्त्तक प्रथम द्वन्द्वभाव निवृत्त होता है। यही आत्मा का मोक्ष है। यही परमात्मभावसम्पत्ति है। तूलद्वन्द्वों का मूल मूलद्वन्द्व, सर्वमूल काम, किंवा कामना। गीताशास्त्र इसी के तो परित्याग का आदेश करता है। **योगमाया** नाम के प्रधान परि-ग्रह से मनोमय बना हुआ काममय आत्मा उस अपहतपाप्मा परमात्मा का हतपाप्मा दूसरारूप है। यही इन्द्रियमनोबुद्ध्यवच्छेदेन द्वन्द्वभावों का भोक्ता है। यही विशेषभाव का समर्पक है। इसी द्वन्द्व लक्षण दूसरे आत्मविवर्त्त का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

---

[1] ऋग्वेद मं० १०।१२९।४।

१–स एष ज्ञः सविज्ञानो भवति। तं विद्याकर्म्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।[1]

२–तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वा आत्मानमुपसंहरति, एवमेवायं पुरुष इदं शरीरं निहत्य, अविद्यां गमयित्वा आत्मानमुपसंहरति।[1]

३–तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते, एवमेवायं पुरुष इदं शरीरं निहत्य, अविद्यां गमयित्वा, अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते-पित्र्यं वा, गान्धर्वं वा, ब्राह्मं वा, प्राजापत्यं वा दैवं वा, मानुषं वा, अन्येभ्यो वा भूतेभ्यः।[1]

४–स वा ऽअयमात्मा ब्रह्म, विज्ञानमयो मनोमयो वाङ्मयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमय आकाशमयो वायुमयस्तेजोमय आपोमयः पृथिवीमयः। क्रोधमयो ऽक्रोधमयः, हर्षमयोऽहर्षमयः, धर्म्ममयोऽधर्म्ममयः, सर्वमयः। तद्यदा-इदंमयः, अदोमयः-इति। यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्म्मणा भवति, पापः पापेन–इति।[1]

५–अथो खल्वाहुः–काममय एवायं पुरुषः–इति। स यथाकामो भवति, तथाक्रतुर्भवति। यथाक्रतुर्भवति तत्कर्म्म कुरुते। यत्कर्म्म कुरुते तदभिसम्पद्यते–इति।[1]

६–तदेष श्लोको भवति—

तदेव सत् तत् सहकर्म्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य।
प्राप्यान्तं कर्म्मणस्तस्य यत् किंचेह करोत्ययम्॥[1]
तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्म्मण–इति नु
"कामयमानस्य" (भोक्तात्मनो मीमांसा)।[1]

—०—

१ द्रष्टव्य बृ०आ०उप० ४।४।

पूर्व प्रतिपादित श्रुतियाँ जहाँ आत्मा को **'असङ्गो-असितो-न सज्जते न व्यथति'** इत्यादिरूप से सर्वथा द्वन्द्वभावशून्य बतला रही हैं, उक्त श्रुतियाँ ठीक इसके विपरीत आत्मा को–**'स:धुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति'** इत्यादिरूप से द्वन्द्वभावयुक्त बतला रही हैं। साथ ही में–**'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म-नेह नानास्ति किञ्चन'** इत्यादि श्रुतियों के अनुसार आत्मनामक कोई पदार्थ एक ही है। एक ही में दो विरुद्ध धर्म्म हो नहीं सकते। फलतः निष्कर्ष यह निकलता है कि वही आत्मा किसी अवस्था में निर्द्वन्द्व है एवं वही आत्मा अवस्थाविशेष से युक्त होता हुआ द्वन्द्ववान् है। विशुद्ध आत्मा निर्द्वन्द्व है, सपरिग्रह वही आत्मा द्वन्द्ववान् है। प्रथमावस्था परमात्मा है, द्वितीयावस्था कर्म्मात्मा है। परमात्मा अकामयमान होता हुआ निष्काम है, कर्म्मात्मा काममय बनता हुआ सकाम है, इसी सकाम भाव को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने–**'इति नु कामयमानस्य'** यह कहा है। एक ही के दो रूप हैं, दो अवस्थाएँ है, इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए श्रुति ने–**'तद्वाऽअस्यैतत्-अतिच्छन्दो ऽपहतपाप्मा, अभयंरूपं, अशोकान्तरम्'** यह कहा है। इस वचन के अनुसार उसी आत्मा के काममयरूप का हम–**'तद्वाऽ अस्यैतत् सच्छन्दस्को हतपाप्मा सभयं रूपं शोकमयम्'** यह लक्षण कर सकते हैं। जब तक कामना है, तब तक **विषयासक्ति** है। जब तक विषयासक्ति है, तव तक नानाभावरूप (यह अपना-यह पराया-इत्यादि भेदरूप) **मृत्युभाव है।** जब तक मृत्यु है, तब तक भय है। जब तक भय है, तब तक शोक है। इस शोकविच्छेद का एकमात्र उपाय है–कामना का परित्याग। कामजापरित्याग से कर्म्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी आत्मा कर्म्म-संस्कार में लिप्त नहीं होता। निरावरणभाव के कारण आत्मा द्वन्द्वविनिर्म्मुक्त होता हुआ अपने उस पररूप को पहिचानता हुआ, दूसरे शब्दों में परभाव को प्राप्त होता हुआ मृत्यलक्षण शोक से एकान्ततः विमुक्त हो जाता है। साधारण मनुष्य समझते हैं कि पुण्य से आत्मोद्धार होता है, पाप से आत्मा शोकग्रस्त बनता है। वैज्ञानिक कहते हैं–पाप-पुण्य दोनों ही बुरे हैं। दोनों में क्षोभमूला अशान्ति विद्यमान है। जब तक द्वन्द्वभाव का एकान्ततः परित्याग नहीं कर दिया जाता तब तक क्षोभनिवृत्ति नहीं हो सकती। उस द्वन्द्वनिवृत्ति का एकमात्र उपाय है–कामना का परित्याग। निष्काम आत्मा ही द्वन्द्वातीत बन कर निर्द्वन्द्व परमात्मभाव को प्राप्त होता हुआ शोक का तरण करने में समर्थ होता है। इन्हीं सब गुहानिहित रहस्यों को लक्ष्य में रख कर वाजिश्रुति कहती है—

[1]१–अथ-अकामयमानः। योऽकामो निष्कामः, (सः) आप्तकामो (भवति), (ततश्च सः) आत्मकामो (भवति)। न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति। अत्रैव समवनीयन्ते (समवलीयन्ते)। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।[1]

२–तदेष श्लोको भवति—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा ये ऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्यो ऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते।। इति।[1]

१ बृ०आ०उप० ४।४।

३–तदेव सन्तस्तदु तद्भवामो न चेदवेदिर्महती विनष्टिः ।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ।।[१]

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।।[१]

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः ।
स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्त्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ।।[१]

४–यदैतमनुपश्यति–आत्मानं देवमञ्जसा ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।।[१]

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।।[१]

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतत् प्रमयं ध्रुवम् ।[१]
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः ।
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।।[१]

५–देवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्, सर्वमेनं पश्यति । सर्वोऽस्यात्मा भवति । सर्वस्यात्मा भवति । सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तरति । सर्वं पाप्मानं तपति, नैनं पाप्मा-तपति । विपापो, विरजो, अविचिकित्सो, ऽपिपासो भवति । ×××× । स वाऽएष महानज आत्मा, अजरः, अमरः, अभयः, अमृतो ब्रह्म । अभयं वै ब्रह्म–इति ।[१]

—०—

उक्त दोनों आत्मविवर्त्तों में से परमात्मविवर्त्त का ज्ञानयोगियों के साथ सम्बन्ध है । सुप्रसिद्ध सांख्यनिष्ठा का मूलाधार यही परमात्मा है । एवं दूसरे कर्म्मात्मविवर्त्त का कर्म्मयोगियों के साथ सम्बन्ध है । कर्म्मयोगी कर्म्मात्मा की प्रेरणा से कर्म्म में प्रवृत्त होता है, ज्ञानयोगी परमात्मा की प्रेरणा से कर्म्म से पीछे हटता है । यह है वस्तुस्थिति । अब इसी वस्तुस्थिति के आधार पर प्रतिज्ञात अर्जुन की शोको-

१ द्रष्टव्य बृ०आ०उप० ४।४।

पनिषत् का विचार कीजिए। अर्जुन वीर था, धर्म्मात्मा था। उसमें कौरवसेना को परास्त करने की पूर्णशक्ति थी। यह सब साधन होते हुए भी क्षुद्र राज्यलोभ से प्रेरित हो कर अपने सामने आए हुए भ्राता–श्वसुर-मातुल-पितामह-गुरु आदि को देख कर अर्जुन का सरल हृदय दया से आप्लावित हो जाता है। क्षात्रधर्म्मविरोधी यह स्वाभाविक दयाभाव थोड़ी देर के लिए अर्जुन पर ऐसा अधिकार जमा लेता है कि, कौरवों के अत्याचारों का बदला लेने वाली उसकी वह पुरानी वासना सर्वथा शान्त हो जाती है। उसका शरीर घूम सा और मन भ्रमित सा हो रहा है, अतएव गांडीव हाथ से छूट पड़ता है। एवं **'न योत्स्ये'** कहता हुआ बिषण्णवदन अर्जुन रथ के धरातल पर शोकग्रस्त होता हुआ बैठ जाता है। अर्जुन के इस स्वाभाविक शोक का एकमात्र मौलिक कारण **'भूतात्मा'** ही है। मामा-काका-बाबा-को मैं कैसे मारूँगा, पूजार्ह भीष्मद्रोण पर कैसे बाण चलाऊँगा–यह ममत्वमूलक भेदव्यवहारभेदक भूतात्मा की प्रेरणा का ही फल है। भूतात्मा की दृष्टि से अर्जुन का यह ममत्वभाव सर्वथा प्रशंसनीय है।

भूतात्मा के अनुयायी अस्मदादि की दृष्टि में अर्जुन का उक्त ममत्वभाव सर्वथा श्रेयस्कर है। भला जो व्यक्ति व्यर्थ के रक्तपात से बचने के लिए साम्राज्यसुख छोड़ने के लिए सन्नद्ध हो गया हो, उसकी उदात्तता की कौन प्रशंसा न करेगा? आज तो अर्जुन जैसा त्यागी विश्व में ढूंढे से भी न मिलेगा। सामान्यजन, जरा-जरा सी सम्पत्ति के लिए कट मरते हैं, उधर अर्जुन साम्राज्य छोड रहा है, कैसी उदारता! कितना त्याग!! कितनी दया!!!

परन्तु आश्चर्य! महाआश्चर्य!! भगवान् कृष्ण अर्जुन के उक्त कार्पण्यभाव का तिरस्कार कर रहे हैं। क्यों? उत्तर उसी परमात्मा से पूछिए। अर्जुन की दृष्टि जहाँ भूतात्मा पर है, वहाँ भगवान् की दृष्टि परमात्मा है। दोनों की उपनिषत् भिन्न-भिन्न है। अर्जुन कहता है–महाराज मैं इन्हें कैसे मारूँ, भगवान् कहते हैं–अर्जुन कौन मरता है? क्या आत्मा भी कभी मरा करता है। तेरी दृष्टि अभी भूतात्मा पर है। जिस दिन तू द्वन्द्वातीत होता हुआ व्यापक परमात्मतत्त्व को पहिचान लेगा, उस दिन तेरा सम्पूर्ण शोक उच्छिन्न हो जायगा।

प्रकृतिसाम्राज्य सर्वथा स्वतन्त्र है। उसकी स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं डाल सकता। परमात्मावतार कृष्ण के सामने प्राकृतिक दृश्य करकमलवत् प्रत्यक्ष था। वे जानते थे कि ऐसा होगा। उधर अर्जुन समझ रहा था–मैं इस पाप का भागी बनूंगा। अर्जुन के इसी भ्रम का निराकरण करने के लिए भगवान् ने आगे जाकर–**'निमित्तमात्रं भवसध्य साचिन्'** कहा है। अर्जुन! तू जिस विषय का शोक करता है, वह नितान्त भ्रान्ति है। भगवान् ने तीनों श्लोकों से (गी० २।११–१३) अर्जुन की इसी भ्रान्ति का निराकरण किया है।

विशुद्धज्ञानयोगलक्षण संन्यासनिष्ठा के भगवान् कृष्ण बड़े विरोधी हैं। भगवान् की दृष्टि में कर्म्मात्यन्तविमोकलक्षण प्राचीनाभिमत सांख्यनिष्ठा सर्वथा अनुपपन्न है। जिस प्रकार द्वैपायन ने परमतनिराकरणप्रकरण में सर्वप्रथम उक्त लक्षण सांख्यनिष्ठा का आमूलचूड़ खण्डन किया है एवमेव भगवान् कृष्ण ने भी **प्रधानमल्लनिबर्हण** न्याय के अनुसार सर्वप्रथम इसी प्रबल शत्रु को परास्त करना आवश्यक समझा है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि लोक में–ज्ञान-कर्म्म भेद से दो निष्ठाएँ

प्रचलित हैं। बतला! तू किस निष्ठा का अनुयायी है। उत्तर में यदि तू ज्ञाननिष्ठा को हमारे सामने रखता है तो स्वागतम्! परन्तु इतना ध्यान रखना कि ज्ञाननिष्ठ ज्ञानयोगी को सांसारिक-लोक संग्राहक कर्म्मों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। कदाचित् तू कहे कि ज्ञानयोग में तो कर्म्म का एकान्ततः परित्याग है। अतः मुझे इस युद्धकर्म्म से विरत ही हो जाना चाहिए तो इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि अभी तैंने ज्ञानयोग का स्वरूप ही नहीं समझा है। तू कहता तो अपने आप को ज्ञानयोगी है, और अज्ञानियों की तरह शोक करता है। बन्धु-बान्धवों की जन्म-मृत्यु पर शोक करना अज्ञानी का काम है, भूतात्मवादी संसारी मनुष्य का काम है। ज्ञानी की दृष्टि में आत्मा व्यापक है। वह भूतात्मा को कोई वस्तु नहीं समझता। परतमात्मभाव का साधक ज्ञानी आत्मा को जन्म-स्थिति भंगरूपा त्रिभंगी से, भूत-भविष्यद्-वर्तमान तीनों कालों से अतीत, सर्वथा एक रस समझता है। सर्वत्र ब्रह्मभावना रखने वाले समदर्शी ज्ञानयोगी ऐसे अवसरों पर शोक नहीं किया करते। ज्ञानयोग का वास्तविक लक्षण है–'**सर्वत्र समबुद्धि रखता हुआ, द्वन्द्वातीत बनता हुए यथाकारसिद्ध कर्म्म में निष्काम बुद्धि से प्रवृत रहता हुआ लोकसंग्रह का सञ्चालन करते रहना।**' दयाभाव अच्छा है, परन्तु कब? जिस दया से लोकसंग्रह की रक्षा होती हो! तू जानता है कि कौरव अत्याचारी हैं, आततायी है। इन्होंने अधर्म्म से तेरा राज्य ले रक्खा है। हम थोड़ी देर के लिए यह मान लेते हैं कि इस कुरुसाम्राज्य में से तुझे कुछ न मिला, तब भी तू अपने पुरुषार्थबल पर अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह कर लेगा। परन्तु क्या एक ज्ञानयोगी का कर्त्तव्य यहीं पर समाप्त हो जाता है? परमात्मा ज्ञानमूर्त्ति बनता हुआ ज्ञानयोगी है। तुझे उसके कर्त्तव्य से शिक्षा लेनी चाहिए। वह प्रकृति के अनुसार सब का संचालन करता हुआ समत्त्वयोग का निर्वाह कर रहा है। जब ग्रीष्म का प्रकोप बढ जाता है तो वह पानी बरसा देता है। पानी की अधिकता को समभाव में परिणत करने के लिए शीत का विकास कर देता है। शीतोपशमन के लिए ग्रीष्म का साम्राज्य कर देता है। अधर्म्मशमन के लिए स्वयं असंग-आप्तकाम होते हुए भी समय-समय पर अवतार धारण करता रहता है। भूकम्प-महामारी विद्युत्पातादि से समय-समय प्रजा को दण्ड देता रहता है। यदि वह भी तेरी तरह उदासीन हो जाय तो क्षणमात्र में लोकमर्य्यादा उच्छिन्न हो जाय। तू जानता है–कौरवों के अधर्म्म से प्रकृति कितनी क्षुब्ध हो रही है। तू जानता है कि इस अधर्म्माचरण से सामान्य जनता को सात्विक प्रवृत्तियों पर कितना बुरा प्रभाव पड़ेगा। तू जानता है–स्वधर्म्मनाश से आत्मा की क्या हानि होगी? तू जानता है–आततायी को दण्ड न देने से राष्ट्र में कैसा विप्लव हो जाता है? हम मानते हैं कि तेरे कर्त्तव्यपालन में जहाँ अनेक लाभ हैं, वहाँ अनेक हानियाँ भी हैं। परन्तु हम तुझ से पूछते हैं कि क्या संसार में कोई भी कर्म्म तू ऐसा बतला सकता है, जिसमें केवल दोष ही दोष, अथवा केवल गुण ही गुण हों। यदि नहीं तो बुद्धिमान् मनुष्य का यही कर्त्तव्य होता है कि '**जिस कर्म्म से अधिक व्यक्तियों का अधिकरूप से लाभ एवं अल्प हानि हो, वह कर्म्म अवश्य ही करना चाहिए एवं जिस कर्म्म से कम व्यक्तियों का अल्प लाभ एवं अधिक हानि हो, वह कर्म्म प्रत्येकदशा में छोड ही देना चाहिए**'–'**अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्**'।[1]

१ रघुवंश द्वितीयसर्ग।

यदि तू युद्ध न करेगा तो युद्धार्थसन्नद्ध शत्रुदल और भी अधिक उद्दण्ड बन जायगा। इस प्रवृद्ध उद्दण्डता का परिणाम यह होगा कि इनकी अत्याचार की मात्रा और भी बढ़ जायगी। उस समय क्या तुझे शोक न होगा? अर्जुन! हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि आततायियों द्वारा संत्रस्त जिस धर्म्म एवं प्रजाविप्लवका तुझे शोक करना चाहिए था एवं जिस शोक की निवृत्ति के लिए तुझे इन्हें दण्ड देना चाहिए था, वह सब आवश्यक कर्म्म तो तू भूल रहा है एवं अनावश्यक साथ ही में शोक न होने वाले कार्यों के सम्बन्ध में तू शोक कर रहा है। यही नहीं–**'यदि कौरव न समझे तो क्या हुआ–हमें तो सोचना चाहिए, हमें तो इस पाप से बचना चाहिए'** इस प्रकार तू पण्डिताई की बातें करता है–**'अरे! यह मर गए! अहा यह तो बच गए'**? क्या स्वाभाविक जन्ममृत्यु की मीमांसा करते रहने का ही नाम पण्डिताई है? पण्डित वह है–जो देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा आदि की पूर्ण मीमांसा करते हुए, सदसद्विवेक द्वारा यावज्जीवन कर्त्तव्य कर्म्म पर आरूढ रहे ॥१॥ कदाचित् तू कहे कि महाराज! जिनसे हमें सन्तोष मिलता है, वे ही जब मर जायँगे, तो फिर राज्यसुख हमारे क्या काम आवेगा? उत्तर में हम यही कहेंगे कि पहले तो कर्त्तव्यनिष्ठ को कर्त्तव्यपालन के अतिरिक्त अन्य विषयों पर दृष्टि ही नहीं डालनी चाहिए। यदि परमार्थदृष्टि से जीवन-मरण के प्रश्न का विचार करेगा तो तुझे विदित होगा कि हम-तू-राजा-और-और सैनिक आत्मरूप से सदा विद्यमान हैं। क्या ज्ञानयोगी का लक्ष्य शरीर है? ज्ञानयोगी तो आत्मा का उपासक है। जब आत्मा त्रिकालाबाधित है तो फिर उसकी अनित्यता एवं उसके वियोग की आशङ्का करना कौनसी बुद्धिमानी है ॥ २ ॥

इस पर यदि तू यह प्रश्न करे कि महाराज! आत्मा तो अवश्य ही नित्य है। परन्तु इनका यह शरीर तो न रहेगा। जिन शरीरों के क्रोड़ में हम उपलालित हुए, जिन हाथों ने हमें धनुर्विद्या की शिक्षा दी, जिन मित्रों के साथ हमने सुख से समय बिताया-वे तो न रहेंगे। इसके समाधान के लिए हम तेरा ध्यान शरीर की विविध अवस्थाओं की ओर आकर्षित करेंगे। यों तो शरीर की **शिशु-बाल-युवा-तरुण-प्रौढ-जरा-वृद्ध**–आदि १० अवस्थाएँ मानी जाती हैं, परन्तु स्थूल-दृष्टि से विचार करने पर भी **बचपन-जवानी-बुढापा** ये तीन अवस्थाएँ (कौमार-यौवन-जरा) तो प्रत्यक्षानुभूत हैं। एक ही शरीर की तीन अवस्थाएँ हैं। साथ ही में तीनों अवस्थाओं के **नाम-रूप-कर्म्म** तीनों धर्म्म परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि कुमारशरीर युवाशरीर से पृथक् है, जराशरीर युवाशरीर से पृथक् है। बचपन में जो हड्डी-मांस-खून-धातु आदि थे, यौवनावस्था में उनका पता भी नहीं है। जराकाल में जो शरीरधातु रहेंगे–उनका युवावस्था में अन्तर्भाव है। युवाशरीर में कुमार-जराशरीरों का अभाव है। प्रतिक्षण विलक्षण क्रिया की अनित्यता सर्वात्मना सिद्ध है। इस क्षणिक क्रिया विज्ञान के अनुसार तो एक वैज्ञानिक को यह तक मानना पड़ता है कि **नास्ति-अस्ति-नास्ति** सारा, अतएव नास्ति-सारा क्रिया का कूट शरीर प्रतिक्षण विलक्षण है। जाने दीजिए सर्वानुभूत क्षणिक परिवर्त्तन को। उक्त तीनों अवस्थाओं का विचार कीजिए। जन्म से निधनावस्था पर्य्यन्त आप अपने मुख से क्रमशः–मैं किसी समय बालक था, मैं किसी समय जवान था, आज मैं बुड्ढा हो गया हूँ–इन तीन वाक्यों का प्रयोग करते हैं। सर्वथा विभिन्न तीनों अवस्थाओं में व्याप्त अवारपारीण यह अहंत्त्व तो आत्मा है। वह सदा सब अवस्थाओं में अनुच्छित्तिधर्म्मा होता हुआ एकरस है। परन्तु शरीर तीनों भिन्न-भिन्न हैं। आप

जानते हैं कि कभी मैं (आत्मा) कुमारशरीर को छोड़ कर युवाशरीरधारण करूँगा। आप जानते हैं कि मैं कभी युवाशरीर का परित्याग कर जराशरीरधारण करूँगा। न केवल यह बात ज्ञान पर ही सीमित रह जाती है, अपितु वैसा आप अपने जीवन काल में प्रत्यक्ष देख भी लेते हैं। हम आप से प्रश्न करते हैं कि, कुमार शरीर को छोडते हुए जब आप (आत्मा) युवाशरीरधारण करते हैं, उस समय क्या आप कुमारशरीर के पृथक् हो जाने से शोक करते हैं? अथवा युवाशरीर के अनन्तर जब आप जराशरीर-धारण करते हैं, तब युवाशरीर के लिए शोक करते हैं? नहीं। कदापि नहीं। कोई व्यक्ति अपने पूर्व-शरीरों के प्रकृति-सिद्ध विपर्यय पर शोक करता नहीं देखा जाता। यह है परिज्ञात परिस्थिति। हम पूछते हैं कि आपने जराशरीर पर ही शरीरपरिवर्त्तन का विश्राम कैसे मान लिया? किस आधार पर मान लिया? कौन कहता है कि जराशरीर के बाद आत्मा बिना शरीर का हो जायगा। **'संयोगा विप्रयोगान्ताः'** इस सर्वानुभूत सिद्धान्त के अनुसार प्राणी पूर्वशरीर छोड़ता है, उत्तर शरीरधारण करने के लिए। जन्म लेता है, मरने के लिए। मरता है, जन्म लेने के लिए। क्या एक वैज्ञानिक नित्यसिद्ध शरीर परिवर्त्तन पर शोक करेगा? छिः! छिः! अर्जुन! तू किस मोह में पड़ गया? भला प्रतिक्षण नष्ट होते रहने वाला शरीर भी कभी स्थायी रहा है, अथवा सदा एक रस रहने वाला अविनाशी आत्मा भी कभी नष्ट हुआ है। तुझे विश्वास करना चाहिए कि शरीर सदा प्राप्त समय पर बदलते ही रहेंगे, आत्मा सदा अपरिवर्तनीय ही रहेगा। इस प्रकार यदि तू शरीर नाश से शोक करता है, तब भी तेरा शोक व्यर्थ है। यदि आत्महत्याजनित पाप से तू क्षुब्ध है, तब भी (परमात्मापेक्षया) तेरा शोक व्यर्थ है। **'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व'**। कदाचित् प्रश्न किया जायगा कि इस जीवन में तो कुमार-यौवन-जरा इन तीनों परिवर्त्तनों का हमें (आत्मा को) अनुभव होता रहता है, इसलिए शोक का कारण उपस्थित नहीं होता। परन्तु जरा-शरीर के परित्याग करने के पश्चात् हम नया शरीर धारण करेंगे, यह हमें अनुभव नहीं होता। फिर उस अतीन्द्रिय विषय पर कैसे विश्वास किया जाय। फलतः शरीरवियोग-जनित शोक अनिवार्य है? इसके सम्बन्ध में भगवान् स्वयं–**'बहूनिमेव्यतीतानि०'** इत्यादिरूप से समाधान करने वाले हैं। पूर्व प्रतिपादित भूतात्मा को अवश्य ही अतीत-अनागत जन्मों का प्रत्यक्ष नहीं होता। फलतः भूतात्मानुयायी सामान्य जीव अवश्य ही इस सम्बन्ध में कुण्ठित बुद्धि रहते हैं। इस कुण्ठितभाव को हटाने के लिए ही तो भगवान् ने–**'न त्वेवाहं जातु न त्वं'** इत्यादिरूप से व्यापक परमात्मा की ओर अर्जुन का ध्यान आकर्षित किया गया है। जिन्हें परमात्मतत्त्व का ज्ञान हो जाता है, दूसरे शब्दों में जो भूतात्मा अवारपारीणनिद्वन्द्वअव्यय का साक्षात्कार कर लेते हैं, उनके सामने सारा अतीन्द्रिय विषय प्रत्यक्षवत् उपस्थित हो जाता है। भगवान् स्वयं परमात्मसम्पत्ति से युक्त थे। इसीलिए उन्हें सब कुछ विदित था। इसी आधार पर उन्होने–**'तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप'** यह कहा है ॥३॥

परमात्मा और भूतात्मा ही इस प्रथमोपनिषत् की आधार भूमि है, यह न भूलना चाहिए। इन दोनों ही आत्माओं के पूर्व में दार्शनिकलक्षण किए जा चुके हैं। अब संक्षेप से इनके वैज्ञानिकलक्षण बतला कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है। **"आत्मा" से हम अव्यय, अक्षर, क्षर,** इन गीता प्रतिपादित तीन पुरुषों का ग्रहण करेंगे। इन तीनों का ही आगे के प्रकरणों में विस्तार से निरूपण होने वाला है। अतः प्रकृत में इनके स्वरूपप्रदर्शन की कोई आवश्यकता नहीं है। अभी केवल यही

समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि एक ही विशुद्ध अव्ययात्मा–१–**अव्ययात्मा**, २–**अक्षरात्मा**, ३–**क्षरात्मा** भेद से तीन भागों में विभक्त हो जाता है। तीनों ही आत्मविवर्त्त त्रिवृद्भाव से युक्त हैं। अर्थात् तीनों में तीनों पुरुष गौणप्रधानरूप से विद्यमान हैं। अक्षर-क्षर गर्भित अव्यय पुरुष **अव्ययात्मा** है। अव्यय–क्षर गर्भित अक्षरपुरुष **अक्षरात्मा** है। अक्षराव्ययगर्भित क्षर पुरुष **क्षरात्मा** है। अव्यय ज्ञानघन है, अक्षर क्रियाघन है, क्षर अर्थघन है। अर्थशक्तिघन क्षर एवं क्रियाशक्तिघन अक्षर को अपने गर्भ में रखने वाला ज्ञानमूर्त्ति अव्यय ही **परमात्मा** है। ज्ञानशक्तिघन अव्यय एवं अर्थशक्तिघन क्षर को अपने गर्भ में रखने वाला अक्षर ही जीवात्मा किंवा **कर्म्मात्मा** है। ज्ञानमूर्त्तिअव्यय, क्रियामूर्त्ति अक्षर को गर्भ में रखने वाला क्षर ही **भौतिकविश्व** है। इस प्रकार एक ही विशुद्ध अव्ययात्मा तीनों पुरुषों के, अथवा एक ही पुरुष के तीन विवर्त्तों के तारतम्य से **ज्ञानप्रधान ईश्वर** (परमात्मा), **कर्म्मप्रधान जीव**, एवं **अर्थप्रधान विश्व** भेद से तीन विवर्त्त भावों में परिणत हो जाता है। उस ओर परमात्मा है, इस ओर विश्व है, मध्य में जीवात्मा है। यदि जीवात्मा विश्वानुयायी बना रहता है तो इसकी भौतिकविश्व के भूतभाग के साथ आसक्ति हो जाती है। यही इसका भूतात्मभाव है। यदि यह अव्ययानुगामी रहता है तो–रहता हुआ भी भौतिकप्रपञ्च इस पर असर नहीं डालता। यही इसका परमात्मभाव है। विश्वानुगति से वही जीव भूतात्मरूप कर्म्मात्मा बनता हुआ सुख-दुःखादि द्वन्द्वभावों से युक्त होता हुआ–**"शोचति मुह्यमानः"** रहता है। अव्यय साक्षात्कार से वही जीव परमात्मरूप निष्कर्म्मात्मा बनता हुआ द्वन्द्वभावों से सर्वथा विमुक्त होता हुआ, निर्गुण बनता हुआ **"न शोचति अमुह्यमानः"**–रहता है। इन्हीं दोनों परिस्थितियों को लक्ष्य में रख कर व्यास कहते हैं—

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः।
कर्म्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते।
स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः।[1]

५ प्रज्ञामात्रा, ५ प्राणमात्रा, ५ भूतमात्रा, १ मन व १ बुद्धि इन १७ के समवाय से युक्त वही आत्मा कर्म्मात्मा बन जाता है। १५ की राशि इन्द्रिय-वर्ग है। इनका संचालक मन है। मन की अधिष्ठात्री बुद्धि है। इन से युक्त आत्मा भोक्तात्मा है, जैसा कि–**"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तंभोक्तेत्याहुर्मनीषिणः"** इत्यादि कह श्रुति से स्पष्ट है।

निष्कर्ष यह हुआ कि अर्जुन की शोकोपनिषत् **भूतात्मा** है, इधर भगवान् के– **'नानुशोचन्ति-पण्डिताः"** इस वाक्य की उपनिषत् परमात्मा है। भूतात्मा क्षरानुगत रहता हुआ द्वन्द्वभाव से संश्लिष्ट होकर अवश्य ही **"शोचति"**। परमात्मा अव्ययानुगत रहता हुआ निर्द्वन्द्व बनकर अवश्य ही **"न शोचति"**। भूतात्मवादी अर्जुन **"शोचति"**, परमात्मद्रष्टा भगवानुपदिशति, दोनों ही बातें अपनी-अपनी उपनिषदों के अनुसार ठीक हैं। एक की उपनिषत् भूतात्मानुगत लौकिकसत्य है, व्यवहारसत्य है। दूसरे की उपनिषत् परमात्मानुगत पारलौकिकसत्य है, परमार्थसत्य है। परमार्थसत्य ही वास्तव में सत्य है।

---

१ महा० मा० शा० पर्व० ३५१।१४–१६ संस्करण-गणपति कृष्णाजी शाके १७८५

उसी सत्यमूर्त्ति अव्यय की ओर दृष्टि कर लेने से क्षरमूलक द्वन्द्वभाव से होने वाला शोक अपने आप निवृत्त हो जाता है। अव्ययात्मदर्शन से शोक हट जाना पहला लाभ है। साथ ही में सर्वत्र समबुद्धि रखता हुआ ऐसा ज्ञानयोगी लोकसंग्रहार्थ स्वाधिकारसिद्ध कर्म्म करता हुआ कभी बंधन में भी नहीं पड़ता। भगवान् का अभिप्राय यह है कि अर्जुन यदि थोड़ी देर के लिए आत्मनित्यता एवं शरीर-अनित्यता पर विश्वास करता हुआ बन्धु-वियोग सम्बन्धी शोक छोड देता है, तब भी अर्जुन को यह कहने का अवसर रह जाता है कि भगवन् कर्म्म आसक्ति का जनक है। ऐसी दशा में ज्ञानयोगावस्था में यदि मैं आसक्तिजनक कर्म्म करूँगा तो आत्मा बन्धन में पड़ जायगा। यह आत्मज्ञानी के लिए क्या कम शोक की बात होगी ? इस द्वितीय शोक की निर्मूलता सिद्ध करने के लिए भगवान् ने परोक्षविधि से निर्द्वन्द्वभाव का उपदेश दिया है। जो मनुष्य भूतात्मा पर दृष्टि रखता है, वही द्वन्द्वभाव से युक्त रहता है। द्वन्द्वभावापन्न आत्मा (भूतात्मा) पर कर्म्म-संस्कार का लेप होता है। यदि निर्द्वन्द्व अव्यय पर दृष्टि रखते हुए कर्म्म किया जाता है तो ऐसे कर्म्म कभी आसक्ति के जनक नहीं होते। क्यों कि ज्ञानमूर्त्ति अव्यय सर्वथा असंग है। इस प्रकार अव्ययोपासक, अतएव सर्वभूतात्मरत ज्ञानयोगी सतत कर्म्म करता हुआ भी बंधन में नहीं पडता। ऐसी दशा में ज्ञानयोगी के लिए कर्म्मसंस्कारलेपजनित शोक का भी अवसर नहीं आता। यही वास्तविक ज्ञानयोग है। यही सच्ची ज्ञाननिष्ठा है। यही मुक्ति का ऋजुमार्ग है। यही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

॥ इति ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषदि प्रथमोपदेशः ॥

१

प्रथमोपनिषदि--

द्वितीयोपदेशः

२-अस्ति हि देहभृत्यव्ययात्मनि सुखदुःखद्वन्द्वस्य संयोगजत्वेनागमापायित्वम्, तस्मात् समदुःखसुखानुभाविनां भूतात्मनामव्ययात्मसाधर्म्यलाभादमृतत्वसम्पत्तिः ।*

१-मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।। (गीता २।१४)

२-यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। (गीता २।१५)

[**मूलानुवाद**]-'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! सर्दी, गर्मी, सुख-दुःख देने वाले संसार के और-और द्वन्द्व इन सब का अनुभव **प्राणमात्रा** नाम से प्रसिद्ध इन्द्रियों के द्वारा होता है । साथ ही में उक्त सभी द्वन्द्वभाव समय-समय पर आते एवं जाते हुए अनित्य हैं । हे भरतवंशज ! तू इन को सहने की आदत डाल ।।१।।

हे पुरुषश्रेष्ठ ! जिस पुरुष को ये मात्रास्पर्श पीड़ित नहीं करते, दुःखसुख में समान रहने वाले जिस धीर को ये द्वन्द्वभाव क्षुब्ध नहीं करते, वही अमृतब्रह्मसम्पत्ति का अधिकारी माना जाता है ।।२।।

[**भाष्य**] **कौरव-पाण्डव** युद्ध की तय्यारियाँ हो रही थीं, बीच ही में कृष्णार्जुन में **वैज्ञानिक** युद्ध छिड़ गया । अर्जुन अपने पक्ष को प्रबल बनाने की चेष्टा में लगा हुआ है, उधर भगवान् अर्जुन की सब चेष्टाओं को व्यर्थ करते जा रहे हैं । यदि भगवान् नारायण के अवतार हैं तो अर्जुन भी **'नर'** (इन्द्र) का अवतार है । ऐसे गुरु-शिष्य का द्वन्द्व सचमुच एक अपूर्वद्वन्द्व था । हम तो उस गाण्डीव का ही यशोगान

---

*देहधारण करने वाले अव्ययात्मा में संयोग से उत्पन्न होने वाले सुखदुःखादि द्वन्द्व आने जाने वाले, अतएव अनित्य हैं । यदि सुखदुःखों का अनुभव करने वाले भूतात्मा के साथ अव्ययात्मा (परमात्मा) का योग कर दिया जाता है तो भूतात्मा अमृतभाव को प्राप्त करता हुआ निर्द्वन्द्व बन कर द्वन्द्वमूलक सुख-दुःखादि से विमुक्त हो जाता है ।

करेंगे, जिसकी अव्यर्थ जिज्ञासा से भगवान् के मुख से यह अलौकिक ज्ञानधारा प्रवाहित हुई। हाँ तो प्रकृत विषय का अनुसरण कीजिए। शोकाकुल अर्जुन इस समय ज्ञाननिष्ठा को मूलाधार मान रहा है। साथ ही में उसने यह भी समझ रक्खा है कि ज्ञानयोगी को कभी कर्म्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। यह अर्जुन का सचमुच प्रज्ञावाद है। ज्ञानी हो कर शोक करना यह पहला प्रज्ञावाद है, ज्ञानयोग में कर्म्म परित्याग का समावेश करना दूसरा प्रज्ञावाद है। इन दोनों प्रज्ञावादों का पूर्व के तीनों श्लोकों से (गी० २।११-१३) भगवान् ने समूल विच्छेद किया। ज्ञानी की दृष्टि **भूतात्मा** पर नहीं रहनी चाहिए, अपितु **सर्वभूतान्तरात्मा** नाम से प्रसिद्ध **परमात्मा** पर ही रहनी चाहिए क्यों कि यही ज्ञानीपुरुष का आत्मा है। इस सर्वात्मभावना किंवा एकात्मभावना से जन्म-मृत्यु से सम्बन्ध रखने वाले शोक को अवसर ही नहीं मिलता। **शब्दप्रमाण-अनुमानप्रमाण** एवं **प्रत्यक्ष-प्रमाण** से भगवान् ने आत्मा की द्वन्द्वातीतता सिद्ध की। परन्तु फिर भी अर्जुन का सन्देह न मिटा :

ध्यान रहे, अर्जुन ज्ञाननिष्ठा का पक्षपाती है। ज्ञाननिष्ठा सांख्यनिष्ठा है। सांख्यनिष्ठा के अनुसार आत्मा प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न है। प्राधानिक आचार्यों का कहना है कि आत्मा को विभु नहीं माना जा सकता। यदि जीवमात्र का एक ही आत्मा मान लिया जायगा, तो संकरदोष होगा। यदि सब में एक ही आत्मा है, दूसरे शब्दों में सब का एक ही आत्मा है तो एक व्यक्ति के सुखी हो जाने से प्राणिमात्र को सुखी हो जाना चाहिए, एक व्यक्ति के दुःखी होने से प्राणिमात्र को दुःखी हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। हम देखते हैं कि कोई नित्यसुखी है, कोई नित्यदुःखी है, कोई विषयानन्द में मग्न है, कोई आत्मानन्द में मग्न है, कोई हँसता है, कोई रोता है। इन सब विशेषभावों के आधार पर हमें मानना पड़ता है कि आत्मा प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त **शब्दप्रमाण** भी भेदवाद की ही पुष्टि करता है। आनन्द की मीमांसा करते हुए एक स्थान पर श्रुति ने कहा है कि **'साधारण मनुष्यों की अपेक्षा सम्पत्तिशाली मनुष्यों को अधिक आनन्द मिलता है। ऐसे शत मनुष्यों का आनन्द एक पितर को मिलता है। ऐसे शत आनन्दों का भोक्ता कर्म्मदेवता है। ऐसे शत आनन्दों का भोक्ता आजान देवों को, ऐसे शत आनन्द नित्य देवों को, ऐसे शत आनन्द गन्धर्व को, ऐसे शत आनन्द प्रजापति (ब्रह्मा) को, ऐसे शत आनन्द ब्रह्म को मिलते हैं"**[1]। आनन्द की इस क्रमिक मीमांसा के साथ-साथ ही श्रुति **मनुष्य, पितर, कर्म्मदेव, आजानदेव, नित्यदेव, गन्धर्व, प्रजापति** आदि का भेद भी बतला रही है। यह भेद आत्मभेद का ही सूचक है। क्यों कि आनन्द का अधिकारी आत्मा ही है। जड़शरीर आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता। यदि आत्मा एक होता तो सब को समान आनन्द आता। ऐसी दशा में आत्मा का अनेकत्त्वसिद्धान्त सर्वथा अक्षुण्ण रह जाता है। आत्मा नित्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वह कोमार-यौवन-जरावत् अन्यान्य शरीरधारण करता रहता है, इसमें भी मुझे कोई विप्रतिपत्ति नहीं। परन्तु सांख्यनिष्ठा के अनुसार जब प्रति व्यक्ति में आत्माभिन्न है, तो ऐसी दशा में भीष्म-द्रोणादि के शरीरनष्ट हो जाने पर उनके आत्मवियोग से जनित शोक को कैसे रोका जा सकता है? ऐसी अवस्था में इन बन्धु-बान्धवों के आत्मवियोगजनित शोक को रोकने का एकमात्र उपाय मेरी दृष्टि में यही आता है कि मैं युद्ध न करूँ।

१ शत० १४।७।१।३४–३९।

सचमुच सांख्यनिष्ठ अर्जुन का उक्त युक्तिवाद सर्वथा शास्त्रसम्मत एवं प्रत्यक्षसिद्ध है। परन्तु भगवान् ने संकेतरूप से प्रथमोपदेश में ही इस युक्तिवाद एवं प्रत्यक्षवाद को उच्छिन्न कर दिया है। परन्तु एतावता ही पूर्ण समाधान नहीं हो जाता। इसी अभिप्राय से भगवान् प्रकारान्तर से आत्मनित्यता एवं उसका विभुत्त्व बतलाते हुए अर्जुन के शोक की व्यर्थता सिद्ध कर रहे हैं। सांख्याभिमत आत्मभेदवाद भूतात्म-दृष्टि से सर्वथा प्रामाणिक है। वास्तव में भूतात्मा प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न ही है। यही भूतात्मा सुख-दुःखादि द्वन्द्वों की आधारभूमि है। इसी विशेष आत्मा के आधार पर **अयं मनुष्यः अयं पिता, अयं पुत्रः, अयं गुरुः, अयं पितामहः**' इत्यादि विशेष व्यवहार प्रतिष्ठित हैं। पूर्व में आनन्द की जो क्रमिक मीमांसा बतलाई गई है, वह भी इन विशेष प्रतिशरीर भिन्न भूतात्माओं के साथ ही सम्बन्ध रखती है। श्रुति ने–"**एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति**" इत्यादिरूप से उन आनन्दों को **मात्रानन्द** कहा है। मात्रानन्द परिमित है। ससीम है। यही विषयानन्द है। इसी को विज्ञानभाषा में **समृद्धानन्द** कहा जाता है। यह विषयानन्द किंवा मात्रानन्द प्रतिशरीर भिन्न मात्रा (इन्द्रियों) के भेद से अवश्य ही भिन्न है। इन्द्रिययोग्यतातारतम्य से प्रत्यक्ष ही आनन्दमात्रा के उपभोग का तारतम्य देखा जाता है! एक ही वस्तु से बुद्धिमान् विशेष आनन्द लेता है, निर्बुद्धि को उसमें कोई आनन्द नहीं आता। इस प्रकार सुख-दुःखादि का भेद मात्राभेद पर अवलम्बित है। मात्राओं से भूतात्मा युक्त रहता है। अतएव उन द्वन्द्वों का उस पर असर पड़े बिना नहीं रहता। सच पूछो तो मात्रास्पर्श ही व्यापक आत्मा को परिच्छिन्न बना कर उसे प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न बना देते हैं। यह आनन्दादि आत्मा के धर्म्म नहीं हैं, अपितु मात्रा-युक्त भूतात्मा से अनुगृहीत शरीर के धर्म्म है। इसीलिए श्रुति ने–"**ये मनुष्याणां-पितॄणां-देवानाम्**" इत्यादिरूप से शरीरभावों का ही उल्लेख किया है। यह भी मानी हुई बात है कि मनुष्यमात्र किंवा प्राणि-मात्र भूतात्मा के ही अनुयायी हैं। परन्तु अर्जुन! तुझे हम मनुष्य नहीं पण्डित देखना चाहते हैं। पण्डित वह है जो द्वन्द्वों को मात्रास्पर्शसम्बन्धी मानता हुआ आत्मा को सर्वथा निर्द्वन्द्व समझे। पण्डित वह है जो भूतात्मा के ही दूसरे अव्ययप्रधान परमात्मभाव पर दृष्टि रक्खे। तू समझता है–आत्मा प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न है। हम कहते हैं, भूतात्मदृष्टि से यह ठीक है, परन्तु परमात्मदृष्टि से यह भेदवाद अशुद्ध है। नहीं तो हम पूछते हैं, बतला तीन शरीरधारण करने वाला व्यक्ति क्यों नहीं तीन आत्मा मानता? शिशु शरीर को छोड कर जब आत्मा युवाशरीरधारण करता है तो उसे "**मैं अब दूसरा हो गया**" यह बोध होना चाहिए। परन्तु नहीं होता। वह अनुभव करता है कि मैं ही पहले उस शरीर में था, अब इस अवस्था में आ गया हूं। यह–"**स एवायं**" रूपा प्रत्यभिज्ञा भी आत्मा का एकत्त्व एवं विभुत्त्व ही सिद्ध करती है।

अर्जुन कहता है, अच्छा भगवन्! मैं मान लेता हूँ कि आत्मा नित्य है, विभु है। शरीर इसी तरह आते जाते रहते हैं। यह सब कुछ मान लिया, समझ लिया। परन्तु क्या करूं–फिर भी शोक सन्ताप मेरे हटाए नहीं हटता। अर्जुन का कथन यथार्थ है। आत्मनित्यता-श्रवणमात्र से कभी शोक-हर्षादि द्वन्द्वभावों से छुटकारा नहीं मिलता। जब शोक होना होता है, शोक का अवसर उपस्थित हो जाता है, तब शोक हो ही पड़ता है। जन्म से आरम्भ कर मृत्युपर्य्यन्त जिस भूतात्मा की हम उपासना किया करते हैं, जन्म से जिस भेदवाद का हम अभ्यास करते रहते हैं, उस भेदवाद को क्षणमात्र में हटाया

भी कैसे जा सकता है ? अर्जुन आज तक तो भूतात्मवादी रहा, फलतः इसी भूतात्मोपनिषत् के आधार पर तद्वियोगजनितभय की आशङ्का से अर्जुन शोकसंतप्त बना। अर्जुन के इस चिरकालाभ्यस्त स्वभाव को-**"तू शोकमत कर, आत्मा तो व्यापक है, शरीर यों ही आते-जाते रहते हैं"** इस एक हेला (कथन मात्र) से कैसे बदला जा सकता है ? **सतत भूतात्मानुषक्तप्राणी कैसे परमात्मभाव को प्राप्त कर सकता है ?** यह इस द्वितीय उपदेश का पहला लक्ष्य है। साथ ही में "भगवन् ! यदि आत्मा अवारपारीण है, नित्य है, विभु है, तो फिर मुझे शोक हो क्यों हो रहा है" इस प्रश्न का समाधान करना दूसरा लक्ष्य है।

सचमुच समस्या बडी जटिल है। आत्मा व्यापक है तो शोक नहीं होना चाहिए, यदि शोक होता है तो आत्मा व्यापक नहीं हो सकता। साथ ही में आत्म-व्यापकता के सम्बन्ध में बतलाए गए पूर्वोक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों की भी अवहेलना नहीं की जा सकती, उधर प्रत्यक्षानुभूत शोक भी तिरोहित नहीं किया जा सकता। अर्जुन की आशङ्का का अभिनय दो प्रकार से किया जा सकता है। एक जिज्ञासादृष्टि से, दूसरा व्यावहारिकदृष्टि से। आत्मा की व्यापकता से प्रभावित अर्जुन शिष्यबुद्धि से जिज्ञासा करता है कि भगवन् ! आत्मा निर्द्वन्द्व-व्यापक है तो फिर शोक क्यों एवं किस को होता है ? यही जिज्ञासादृष्टि है। अर्जुन कहता है, भगवन् ! आप कहते हैं,-"आत्मा को व्यापक, शाश्वत एवं शरीर को परिच्छिन्न, अशाश्वत समझता हुआ शोक का परित्याग कर ? परन्तु मैं क्या करूँ। व्यापक समझते हुए भी तो मुझे शोक हो रहा है। प्रकृतिसिद्ध शोक मेरे से रोका नहीं जाता। बस प्रकृत के दो श्लोकों से भगवान् ने इन्हीं दोनों दृष्टियों का समाधान किया है।

जब कि आत्मा व्यापक है, द्वन्द्वातीत है तो फिर इसे शोक होता ही क्यों है ? पहले हमें इस प्रश्न की मीमांसा करनी पड़ेगी। इसके लिए **मात्रास्पर्शविज्ञान** का अन्वेषण करना पड़ेगा। पूर्व में यह बतलाया जा चुका है कि अमृतात्मा नाम से प्रसिद्ध परमात्मा ही (५) प्रज्ञा, (५) प्राण, (५) भूत, (१) मन, (१) बुद्धि इन सत्रह परिग्रहों से युक्त हो कर भूतात्मस्वरूप में परिणत हो जाता है। इसी आधार पर भोक्तृ लक्षण इस भूतात्मा का **"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः"** यह लक्षण किया जाता है। पहले **"मात्रा"** का विचार कीजिए। भौतिकसम्पत्ति को ही विज्ञानभाषा में **"मात्रा"** कहा जाता है। इस भूतवर्ग की जननी **माया** नाम का बलविशेष है। **"मिमीते-सा माया"-'मीयते-अनया सा माया"** इत्यादि निर्वचनों के अनुसार असीम को ससीम बना देने वाला बलविशेष ही माया है। यह **माया महामाया, योगमाया, ब्रह्म-माया, विष्णुमाया, शिवमाया** आदि भेदों से अनेक भागों में विभक्त है। मायाबल के गर्भ में-**जाया-धारा-आप-अम्भ-यक्ष-हृत्-सत्य-सूत्र-ऋत** आदि अनेक बल विचरण करते रहते हैं। जब तक मायाबल का उदय नहीं होगा, तब तक तो इतस्ततः आलोडित रहते हुए इन बलों को संसृष्ट होने का अवसर नहीं मिलता। बलों की इसी प्रारम्भिक अवस्था को दार्शनिक लोग-**"परमाणु"** नाम से व्यवहृत करते हैं। मायाबल के उदय से परमाणुरूप सब बल एक सीमा से सीमित हो जाते हैं। फलतः इन्हें इतस्ततः विचरण करने का पर्य्याप्त धरातल नहीं मिलता। सब परस्पर में संसृष्ट हो जाते हैं। यही चितिसम्बन्ध है। इसी से भूतभाग का उदय होता है। मायाबल की कृपा से संसृष्ट भूतवर्ग ही **"मात्रा"** है। इन का जन्म सीमित माया के गर्भ में हुआ है, इसीलिए इनमें भी वह मितिधर्म्म संसक्त रहता है।

मायावत् मायामयी मात्राएँ (भूत) भी सीमाभाव की प्रवर्त्तिकाएँ हैं। इसीलिए जिस व्यक्ति का भौतिक-सम्पत्ति से अधिक स्नेह हो जाता है, जो व्यक्ति भूतसम्पत्ति का अभिमान करने लगता है, उसके सम्बन्ध में प्रान्तीय भाषा में-**अजी ! इन्हें कहीं से "माया" मिल गई है कुछ "मात्रा" पास में हो गई है**-यह किंवदन्ती प्रचलित है। इससे हमें बतलाना यही है कि माया और मात्रा दोनों अपरिमित को परिमत करने में समान धर्म्मानुयायिनी हैं। '**मात्रा**" खण्ड का नाम है। खण्डभाव ही तो अखण्ड को खण्डवत् बनाता है। सभी भूतक्षर के कूट (राशि) हैं। अनेकखण्डों से ही तो कूट बनता है। ऐसी स्थिति में खण्डात्मक भूतों को अवश्य ही **"मात्रा"** कहा जा सकता है। मात्राशब्द में-**"म्-आ-त्-र-आ"** यह विभाग है। तकार को टकार बना डालिए। मात्रा **"माट्रा"** बन जायगी। उच्चारण दोष से यही माट्रा आगे जाकर "मेटर" कहीं जाने लगेगी। पश्चिमी विद्वान् जिसे **"मेटर"** (Matter) कहते हैं, पूर्वी-विद्वान् उसे ही **"मात्रा"** कहते हैं। भौतिकवर्ग ही मात्रा है, भूत ही "मेटर" है। यह भूतवर्ग प्रधानरूप से **पृथिवी, जल-तेज-वायु-आकाश** भेद से पाँच भागों में विभक्त है।

इन पाँचों भूतों का अध्यात्मसंस्था के साथ समन्वय कीजिए। **१-शब्द**, २-**श्रोत्र**, ३-**शरीरछिद्र** इन तीनों का आकाश से सम्बन्ध है। **१-प्राण**, २-**चेष्टा**, ३-**स्पर्श** यह तीनों वायु की विभूतियाँ हैं। **१-रूप**, २-**चक्षु**, ३-**विपाक** (जठराग्नि), ये तीनों तेज के गुण हैं। **१-रस**, २-**रसना**, ३-**स्नेह** ये तीनों जल के विवर्त्त हैं। १-**घ्रेय**, २-**घ्राण**, ३-**शरीर** ये तीनों भूमि के गुण हैं। इन १५ गुणों की समष्टि का नाम ही इन्द्रिय-ग्राम है। यही आध्यात्मिक पाञ्चभौतिक विवर्त्त है। इस प्रकार शरीरसंस्था में ५ भूतों के साथ ३-३-के हिसाब से १५ विवर्त्त हो जाते हैं। इन्हीं का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषत् श्रुति कहती है—

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।
यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ।।[1]

१-आकाशम्	२-वायुः	३-तेजः	४-जलम्	५-पृथिवी
↓	↓	↓	↓	↓
१-शब्दः	१-प्राणः	१-रूपं	१-रसः	१-घ्रेयं
२-श्रोत्रम्	२-चेष्टा	२-चक्षुः	२-रसनम्	२-घ्राण म्
३-खानि	३-स्पर्शः	३-विपाकः	३-स्नहेः	३-शरीरम्

(म० शान्ति-मोक्ष० पर्व २४८ अ०) ।

१ छा० उप० २।२१।३-४ ।

प्रकारान्तर से विचार कीजिए। शरीर-अवकाशात्मक आकाश (शरीर-छिद्र), श्रोत्रेन्द्रिय, शब्द ये सब आकाश के गुण हैं। गमन, प्राणन, अपानन, त्वगिन्द्रिय, स्पर्श ये सब मारुतात्मक हैं। ताप, पाक, प्रकाश, चक्षुरिन्द्रिय, रूप ये सब तेजोमय हैं। प्रक्लेद, क्षुद्रता, स्नेह, असृक्, मज्जा, और-और स्निग्ध पदार्थ ये सब आपोमय हैं। अस्थि, दंत, नख, श्मश्रु, रोम, केश, शिरा, स्नायु, चर्म्म, घ्राणेन्द्रिय, गन्ध ये सब पृथिवीमय हैं। (देखिए महा० शा० मोक्ष० २५२ अ०)। साथ ही में–"**उत्तरेषुगुणाः सन्ति सर्वसत्त्वेषु चोत्तराः**" इस अभियुक्तसिद्धान्त के अनुसार उत्तर-उत्तर के भूतों में पूर्व-पूर्व के भूतगुणों का समावेश रहता है। तात्पर्य्य इसका यह हुआ कि–शब्दमात्र आकाश का गुण है। शब्द-स्पर्श-वायु में प्रतिष्ठित हैं। शब्द-स्पर्श रूप-तेज में प्रतिष्ठित हैं, शब्द-स्पर्श-रूप-रस ये चार गुण पानी में प्रतिष्ठित हैं, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध–ये पाँच गुण पृथिवी में प्रतिष्ठित हैं। प्रधानता उक्त पाँच भूत मात्राओं की ही समझनी चाहिए। जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

वायोः स्पर्शो, रसोऽद्भ्यश्च, ज्योतिषो रूपमुच्यते।
आकाशप्रभवः शब्दो गन्धो भूमिगुणः स्मृतः॥[1]

	१				
१–आकाशे–	शब्दः				
	१	२			
२–वायौ–	शब्दः–	स्पर्शः			
	१	२	३		
३–तेजसि–	शब्दः–	स्पर्शः–	रूपम्		
	१	२	३	४	
४–जले–	शब्दः–	स्पर्शः–	रूपम्–	रसः	
	१	२	३	४	५
५–भूमौ–	शब्दः–	स्पर्शः–	रूपम्–	रसः–	गन्धः

महर्षि **कौषीतकि** के मतानुसार मात्राविभाग दूसरे प्रकार से ही द्रष्टव्य है। मात्राओं का अधिष्ठाता **सर्वेन्द्रिय-अनिन्द्रिय-अतीन्द्रिय** आदि विविध नामों से प्रसिद्ध **प्रज्ञान** नामक चान्द्रमन ही है। इस चान्द्रमन में **चित्-सोम-इन्द्रप्राण** ये तीन तत्त्व हैं। सोम वीध्र-पदार्थ है। इसमें आदर्शवत् प्रतिबिम्ब ग्रहण योग्यता है। अतएव विज्ञानसहकृत (बुद्धिसहकृत) चिदात्मा का इस वीध्र-सोम पर उसी प्रकार प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होता है, जैसे कि अधिदैवतमण्डल में सोममय, अतएव वीध्र चन्द्रमा पर सूर्य्य-ज्योति का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस चित्प्रतिबिम्ब में ज्योति और चित् दो भाग हैं। चित् ज्ञान है, ज्योति प्राणरूप क्रियातत्त्व है। बुद्धि में ज्ञान का भाग चिदंश है, ज्योति का भाग-प्राण है। इसी प्राण

१ (महा० शा० मो०पर्व २४८ अ०, गणपत कृष्णाजी संस्करण शाके १७८५. एवं पूना० सं० शा० पर्व २३६ अ०)।

को इन्द्र कहा जाता है । इस इन्द्रप्राणमय चिदंश का सोम के साथ सम्बन्ध होता है । सोम चमक पड़ता है । यही सोम-चित्-प्राण की समष्टि प्रज्ञानमन है । विज्ञान (बुद्धि) की कृपा से प्रज्ञान में चित्-प्राण का आगमन हुआ है, फलतः सिद्ध हो जाता है कि प्रज्ञान मन जब तक विज्ञानघनाबुद्धि के साथ युक्त रहता है, तभी तक वह प्रज्ञान बना रहता है । इसी अभिप्राय से-"**सोऽयं प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मना सम्परिष्वक्तो विज्ञानघन एव**" यह कहा जाता है । कहना यह है कि प्रज्ञान-मन में जो सोम का अंश है, वह तो भूतरूप **अर्थ** भाग है । चिदंश **ज्ञान** है, प्राण-भाग क्रिया है । ज्ञान-क्रिया-अर्थ की समष्टि प्रज्ञान है । इन तीनों में चिदंश और प्राण की समष्टि को तो "**प्रज्ञात्मकप्राण**" कहा जाता है । दोनों दो हैं, परन्तु दोनों का तादात्म्यभाव को लक्ष्य में रख कर कौषीतकि कहते हैं—

यो वै प्राणः सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा स प्राणः ।
स ह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः ॥[1]

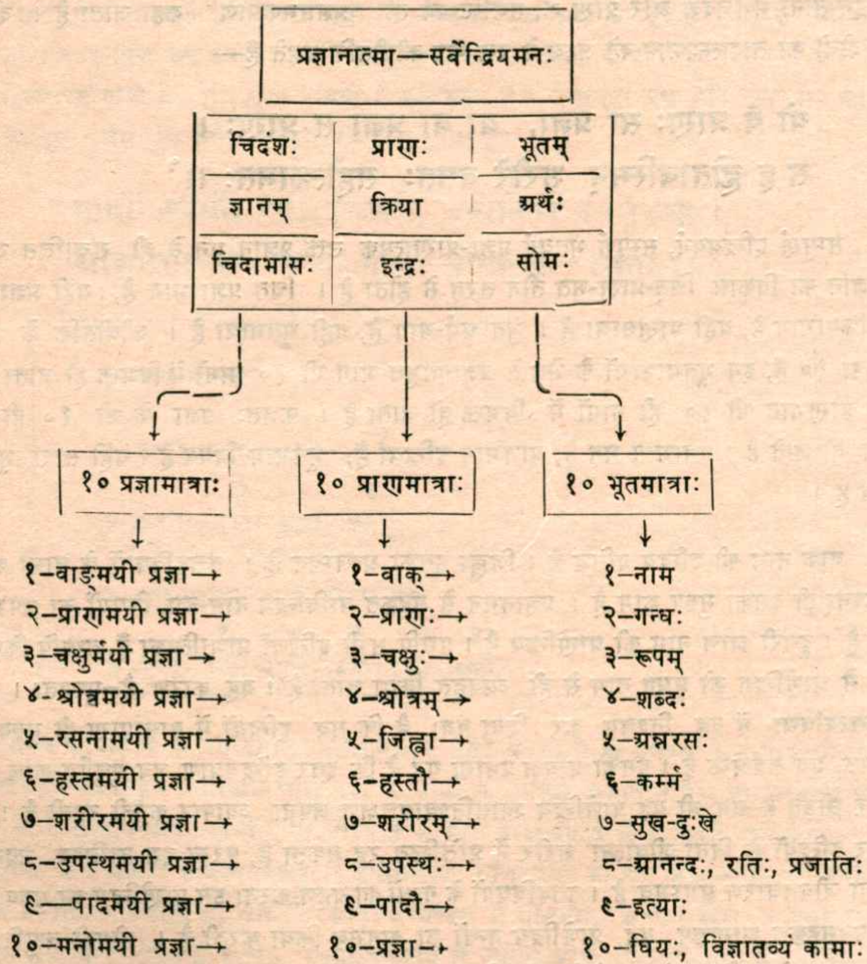
सम्पूर्ण इन्द्रियवर्ग, सम्पूर्ण भूतवर्ग प्रज्ञा-प्राणात्मक उक्त प्रज्ञान मन से ही संचालित रहता है । इस प्रज्ञान का विकास **चित्-प्राण-भूत** तीन तरह से होता है । चित् प्रज्ञा भाग है, यही **प्रज्ञामात्रा** है । प्राण क्रियाभाग है, यही **प्राणमात्रा** है । भूत अर्थ-भाग है, यही **भूतमात्रा** है । कौषीतकि के मतानुसार भूतमात्रा १० हैं, इन भूतमात्राओं के भेद से प्रज्ञागतभूत भाग भी १० भागों में विभक्त हो जाता है । भूत-भेद से प्राणभाग भी १० ही भागों में विभक्त हो जाता है । फलतः प्रज्ञा के भी १० ही अवान्तर विभाग हो जाते हैं । प्रज्ञाभाग **मन** है, प्राणभाग **इन्द्रियाँ** हैं, भूतभाग **विषय** है । यही सारा भूत-भौतिक प्रपञ्च है ।

वाक् नाम की इन्द्रिय प्रसिद्ध है । जिह्वा इसका आलम्बन है । तत्तद्विषयों के नामों का उच्चारण करना ही इसका मुख्य काम है । प्रज्ञानमन से सहकृत वागिन्द्रिय नाम-रूप विषयों का उपभोग किया करती है । दूसरी **प्राण** नाम की **प्राणेन्द्रिय** है । यद्यपि सभी इन्द्रियाँ प्राणात्मिका हैं, तथापि किसी कारण विशेष से घ्राणेन्द्रिय को **प्राण** नाम से ही व्यवहृत किया जाता है । वह कारण है—मुख्यता । प्राणों की **अहंश्रेयस्त्वविद्या** में यह निश्चय कर दिया गया है कि सब इन्द्रियों में नासाप्राण ही मुख्य, अतएव सर्वज्येष्ठ, एवं सर्वश्रेष्ठ है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि इतर इन्द्रियप्राण जब सुषुप्ति-काल में अपना व्यापार छोड़ते हैं—तब भी यह प्राणेन्द्रिय श्वासनिश्वासलक्षण अपना व्यापार करती रहती है । साथ ही में इतर इन्द्रियों के बिना जीवात्मा शरीर में प्रतिष्ठित रह सकता है, परन्तु इस नासिक्य उद्‌गीथ प्राण के बिना जीवनधारण असम्भव है । ततद्विषयों के गन्धों का ग्रहण करना इस प्राणेन्द्रिय का मुख्य काम है । प्रज्ञानमनसहकृत घ्राणरूप यह प्राणेन्द्रिय गन्धों का अनुभव किया करती है । तीसरी चक्षुरिन्द्रिय है । रूप इसका भोग्य विषय है । चौथी श्रोत्रेन्द्रिय है, शब्दश्रवण इसका भोग्यविषय है । जिह्वा में ही **रसनेन्द्रिय** प्रतिष्ठित है । **अन्नरस** इसका भोग्य विषय है । हस्त भी प्रज्ञान का एक अंग है । **कर्म्म** इसका

---

१ कौ० ब्रा० उप० ३।३ ।

भोग्य विषय है, शरीररूप भोगायतन भी एक अंग है। सुख-दुःख इसके भोग्य विषय है। उपस्थ एक स्वतन्त्र अंग है। आनन्द, रति, प्रजाति ये तीन इसके विषय हैं। पाद नामक अंग का विषय गति है। अनुकूल प्रतिकूल वेदना का अनुभव करने वाला प्रज्ञारूप इन्द्रियमन भी एक उसी प्रज्ञान का अङ्ग है। बौद्धिक व्यापार, विज्ञातव्य काम इसके विषय हैं। इन १० ही पर्वों में प्रज्ञानमन का सहयोग प्रत्येक दशा में आवश्यक है। जैसाकि-**"नहि प्रज्ञापेता वाक्-नाम किंचन प्रज्ञापयेत्, अन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह"** इत्यादि से स्पष्ट है।



दार्शनिक दृष्टि से विचार कीजिए। दार्शनिक-लोग ५ ज्ञानेन्द्रियाँ मानते हैं, ५ कर्म्मेन्द्रियाँ मानते हैं। इन १० के अतिरिक्त ज्ञानेन्द्रियों में ही मन को ६ठी इन्द्रिय और मानते हैं। इस प्रकार इनके मतानुसार ११ इन्द्रियाँ हो जाती हैं। श्रोत्र, घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् ये पाँच तो ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक्,

पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ हैं । मन ६ठा, अथवा ग्यारहवाँ है–**'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि'** । वैदिक विज्ञान के अनुसार इन सब का **वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन** इन पाँच ही इन्द्रियों में अन्तर्भाव हो जाता है । वाक् से शब्दकर्म्म करने वाली वागिन्द्रिय का, अन्नरस भोग करने वाली रसनेन्द्रिय का–दोनों का ग्रहण है । प्राण ही कर्म्म की विकास भूमि है । अतः कर्म्मप्रधान पाणि-पाद-पायु-उपस्थ-इन चारों कर्म्मेन्द्रियों का एवं घ्राण नाम की ज्ञानेन्द्रिय का प्राणेन्द्रिय में अन्तर्भाव हो जाता है । त्वगिन्द्रिय का मन में अन्तर्भाव है । यह इन मात्राओं का एक स्वतन्त्र ही विभाग है । इन सब मात्राओं के सम्बन्ध में यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि ज्ञानेन्द्रियों में प्रज्ञामात्राएँ प्रधान रहती हैं एवं कर्म्मेन्द्रियों में प्राणमात्राएँ प्रधान रहती हैं । इस मात्राभेद का मूलकारण मात्रारूप पञ्चभूत ही हैं । वास्तव में मात्रा शब्द भूत-भाग से ही सम्बन्ध रखता है । भूत के सम्बन्ध से ज्ञान (प्रज्ञा) और प्राण को भी मात्रा रूप में परिणत हो जाना पड़ता है । यह मात्राभाव परिच्छन्न होता हुआ, नानाभावात्मक बनाता हुआ मृत्यु रूप है । परिच्छेद और नानात्व ही मृत्यु का स्वरूपधर्म्म है ।

प्रत्येक वैषयिकज्ञान में उक्त तीनों मात्राओं का समावेश होता है । तीनों के समन्वय से ही तात्कालिक प्रत्यय (ज्ञान) का उदय होता है । "**घटमहं जानामि**" इस घटज्ञान में **घट, जानने वाला, जनाने वाला**–ये तीन वृत्तियाँ हैं । घट भूतमात्रा है । जानने वाला प्रज्ञाभाग है । जनाने वाला प्राज्ञभाग है । यही गीताशास्त्र के अनुसार क्रमशः **ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता** है । कर्म्मेन्द्रियों में येही तीनों-कर्त्ता-कर्म-करण नाम से व्यवहृत होते हैं । दार्शनिकलोग इन्हीं तीनों को **अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न चैतन्य, विषयावच्छिन्न चैतन्य**–इन नामों से व्यवहृत करते हुए इन तीनों के समन्वय से प्रत्ययोत्पत्ति मानते हैं । प्रत्येक ज्ञान किंवा कर्म त्रिभावापन्न रहता है, यह सर्वथा निर्विवाद है । जानने वाला आत्मा (प्रज्ञानयुक्त आत्मा) है, जनाने वाली इन्द्रियाँ हैं, जानने की चीजें विषय हैं । तीनों के समन्वय से तात्कालिक अपूर्वज्ञान का उदय होता है । यदि यह ज्ञान अनुकूल होता है तो मन में–"**अहंसुखी**" इस प्रत्यय का उदय होता है, प्रतिकूल ज्ञान में "**अहंदुःखी**" इस भाव का उदय होता है । अब प्रश्न हमारे सामने यह उपस्थित है कि सुख और दुःख सत्तासिद्ध पदार्थ हैं, अथवा भातिसिद्ध ।

यदि आप जरा सूक्ष्म दृष्टि से विचार करेंगे तो आपको इनकी काल्पनिकता में जरा भी सन्देह न रहेगा । सुख-किंवा दुःख का उदय तात्कालिक है । न तो विषय में दुःख है, न आप में दुःख है, न इन्द्रियों में दुःख है, दुःख है तीनों के समन्वय में । शर्करा में कभी मिठास नहीं है । न मिठास आपकी जिह्वा में है । न मिठास आपके आत्मा में है । आत्मा-शर्करा-जिह्वा तीनों की मात्राओं के संयोग से तत्काल मधुररस का उदय होता है । इससे में आप संयोगज सुख किंवा आनन्द का अनुभव करने लगते हैं । यदि संयोग प्रवर्त्तक तीनों मात्राओं में कोई दोष रहता है तो उक्त मधुर रस का उदय नहीं होता । ज्वर पीड़ित को प्रत्येक वस्तु कटु क्यों लगती है ? एक व्यक्ति मिर्च से किसी प्रकार की तिक्तता का अनुभव नहीं करता, परन्तु एक स्पर्शमात्र से अश्रुपात करने लगता है । क्यों ? यदि तिक्ततागुण मिर्च में सत्तासिद्ध है तो फिर सबको समान रूप से उसका अनुभव होना चाहिए था । परन्तु नहीं होता । इसी लिए हम कह सकते हैं कि स्वादु-अस्वादु-सुख-दुःख-अच्छा-बुरा-अनुकूल-प्रतिकूल–ये सब तात्कालिक हैं,

संयोगज हैं । अशाश्वत हैं । एक बच्चे को डॉक्टर शीतला का निरोध करने के लिए टीका लगाता है । बच्चे को पीड़ा न हो, इसलिए एक व्यक्ति उस बच्चे का खिलोनों से–अहा देख यह मोटर आई, यह बन्दर आया, ऐसे-ऐसे उपलालनों से उसके मन की वृत्ति को दूसरी ओर आकर्षित करता रहता है । परिणाम यह होता है कि बच्चे को पीड़ा का अनुभव नहीं होता । हँसी-हँसी में सब काम हो जाता है । कारण स्पष्ट है । मात्राओं का संयोग ही तो कष्ट का जनक था, उसे दूसरी ओर अनुगत कर दिया । इन्हीं सारी परिस्थितियों के आधार पर आपको यह विश्वास करना पड़ेगा कि शीतोष्ण-सुख दुःखादि जितने द्वन्द्व भाव हैं, सब मात्राओं के स्पर्श से तत्काल उदित होने वाले अशाश्वत धर्म्म हैं । इन्हें सत्तासिद्ध मान बैठना महामूर्खता है ।

आत्मा अव्ययपुरुष है । वह स्वस्वरूप से सर्वथा असंग है । परन्तु प्रकृति-विकृति-बुद्धि-मन-मात्रा-आदि परिग्रहों से सीमितवत् बनता हुआ, भूतानुषक्त बनता हुआ थोड़ी देरके लिए वह अपनी व्यापकता भूल जाता है । परमात्मा की इसी परिच्छिन्न अवस्था का नाम "**भूतात्मा**" है । जैसा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

पुरुषः प्रकृतिर्बुद्धिर्विषयाश्चेन्द्रियाणि च ।
अहंकारोऽभिमानश्च समूहो भूतसंज्ञकः ।।[1]

एक पानी का पात्र भरा हुआ है । उस पर सूर्य्य का प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित है । पानी आधार है, प्रतिबिम्बित सूर्य्य आधेय है । परमार्थदृष्टि से यद्यपि प्रतिबिम्ब और पानी का परस्पर में कोई सम्बन्ध नहीं है । यदि है भी तो असङ्ग सम्बन्ध । पानी के साथ प्रतिबिम्ब की हृद्-ग्रन्थि नहीं है । तथापि व्यवहारदृष्टि से दोनों का सम्बन्ध मानलिया जाता है । सीधे शब्दों में (इसी व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा से) यों कहा जा सकता है कि पानी के साथ प्रतिबिम्ब का स्पर्श है । यह वस्तुस्थिति है । हम आपसे कहते हैं कि पानी का तो स्पर्श न हो और फिर आप किसी उपाय से उस प्रतिबिम्बित सूर्य्य में हलचल पैदा करदें । क्या आप ऐसा कर सकेंगे ? सर्वथा असंभव । आप, वायुव्यापार द्वारा तब तक प्रतिबिम्ब में कोई भी क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकते, जब तक कि पानी को क्षुब्ध न कर दिया जाय । ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए । मात्रामय, बुद्धिसंयुक्त प्रज्ञानमन सोममय है । सोम पानी की ही अवस्थाविशेष है । शरीररूपपाञ्चभौतिकपात्र में बुद्धि, मात्रायुक्त, किंवा तन्मय सोमात्मक मनोमय पानी भरा हुआ है । इस पानी पर व्यापक परमात्मा प्रतिबिम्ब रूप से प्रतिष्ठित हो रहा है । दोनों का (काल्पनिक) स्पर्श सम्बन्ध है । बाहर के विषयोपभोग वायुस्थानीय हैं । यह वायुरूप विषय सेन्द्रिय मनरूप जल में बिना क्षोभ पैदा किए, प्रयत्न सहस्रों से भी उस चिदाभासलक्षण आत्मा में किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकते । सच पूछिए तो आत्मा में किसी भी अवस्था में क्षोभ नहीं होता । पानी हिलता है, इसलिए प्रतिबिम्ब हिलता सा मालूम पड़ता है । आप प्रतिबिम्ब को न जला सकते, न काट सकते, न दूषित कर सकते, न क्षुब्ध कर सकते । सुख-दुःखादि तात्कालिक भावों का मात्रायुक्त मन के साथ सम्बन्ध है । उधर

१ महा. शा. मो. पर्व २०५ अ. गणपत कृष्णाजी संस्करण शाके १७८५ ।

मन आत्मा के साथ सन्निहित है । अतः इसके क्षोभ से भूतात्मा क्षुब्ध सा प्रतीत होने लगता है । यही तो दार्शनिकों का **अध्यास** (भ्रान्ति) है । मन के क्षोभ से आत्मा क्षोभ की भ्रान्ति में पड़ जाता है । तन्निवृत्यर्थ मनोवृत्ति का आत्मा के साथ असम्बन्ध मानना ही उचित है । सब से बडी चिकित्सा तो है–मन को उस ओर से हटाते रहने का अभ्यास करते रहना । शोक का जितना चिन्तन किया जायगा, वह उतना ही अधिक क्षोभ पैदा करेगा । बुद्धियोग द्वारा इन द्वन्द्वभावों की तात्कालिकता का विमर्श करते हुए इन की ओर से उदासीन रहना ही शोकनिवृत्ति की महा चिकित्सा है । जैसाकि शोकचिकित्सक कहते हैं—

दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युप स्थिते ।
यस्मिन्न शक्यते कर्तुम् यत्नस्तं नानुचिन्तयेत् ॥१॥[1]

भैषज्यमेतद्दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ।
चिन्त्यमानं हि चाभ्येति भूयश्चापि प्रवर्त्तते ॥२॥[1]

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥३॥[1]

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः ।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः ॥४॥[1]

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हसि ।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥५॥[1]

सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः ।
स्निग्धस्य चेन्द्रियार्थेषु मोहान् मरणमप्रियम् ॥६॥[1]

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः ।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न ते शोचन्ति पण्डिताः ॥७॥[1]

ज्ञानं ज्ञेयाभिनिर्वृत्तं विद्धि ज्ञानगुणं मनः ।
प्रज्ञाकरणसंयुक्तं ततो बुद्धिः प्रवर्त्तते ॥८॥[1]

---

१ महा० शा० मो० पर्व २०५ अ० गणपत कृष्णाजी संस्करण शाके १७८५ ।

यदा निर्गुणमाप्नोति ध्यानं मनसि पूर्वजम् ।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म निकषं निकषे यथा ॥९॥[1]
मनस्त्वपहृतं पूर्वमिन्द्रियार्थनिदर्शकम् ।
न समक्षगुणापेक्षिनिर्गुणस्य निदर्शकम् ॥१०॥[1]

"शोक आत्मा का धर्म्म नहीं है, अपितु मात्रास्पर्श जनित द्वन्द्वभावों से शोक-भाव का उदय होता है"। इससे भगवान् को यही बतलाना है कि-शोकावसर उपस्थित होने पर शोक अवश्य होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में तुझे यही बतलाना चाहता हूँ कि शोक तात्कालिक पदार्थ है। साथ ही में इसका मात्रास्पर्श से सम्बन्ध है। आत्मा की इससे कोई हानि नहीं होती। शोक होने से आत्मा की व्यापकता में सन्देह करना अनुचित है। इन्द्रियधर्म्मों को आत्मा के साथ सम्बद्ध समझना यह सामान्य मनुष्यों का काम है। पण्डित वह है कि जो आत्मा को भूतपृथग्भावदृष्टि से असंग समझता हुआ मात्राजनित अशाश्वत सुखदुःखादि द्वन्द्वों की उपेक्षा करता रहता है। शोक को दूर करने का उपाय शोक नहीं है, अपितु शोक की उपेक्षा करते हुए आत्मविवेक का अभ्यास करते रहना ही पुरुषार्थ है। **शीत-ग्रीष्म** यह प्राकृतिक द्वन्द्व है, **सुख-दुःख** कृत्रिम द्वन्द्व है। भगवान् ने इन दोनों द्वन्द्वों का ग्रहण करते हुए इतर प्राकृतिक, कृत्रिम सब द्वन्द्वों का ग्रहण कर लिया है। श्लोकपूर्वार्द्ध से भगवान् शोक की तात्कालिकता बतलाते हुए आत्मविवेक का उपदेश देते हैं—

"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः" ।[2]

अर्जुन कहता है, अच्छा, स्वाभाविक शोक को आप के कथनानुसार मैं आगन्तुक मान लेता हूँ। साथ ही मैं यह भी मान लेता हूं कि ये सब इन्द्रियों के धर्म्म हैं। परन्तु एतावता मेरा क्या उपकार हो गया ? मेरे मानने से ही तो शोक नहीं हट जाता। शोक हो रहा है, हो जाता है, होता है, इसकी क्या चिकित्सा ? श्लोकार्द्ध से भगवान् कृष्ण अर्जुन की इसी आशङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं–

"आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत" ।[3]

न कभी मनुष्य नितान्त सुखी रहता, न नितान्त दुःखी रहता। चक्रवत् सुख-दुःखादि मात्राएँ तत्तद्विशेषपरिस्थितियों में आती रहती हैं, जाती रहती हैं। जिनका गमनागमन स्वाभाविक धर्म्म है, उन्हें नित्य तो किसी भी अवस्था में नहीं कहा जा सकता। मान लीजिए, एक व्यक्ति आज नितान्त दुःखी है। अब यदि वह यह समझ बैठता है कि मैं तो अब सदा दुःखी ही रहूंगा, तो उसका जीवन निरर्थक बन जाता है। उसे विश्वास रखना चाहिए कि आगन्तुक वस्तु कभी नित्य नहीं होती। एक दिन अवश्य दुःख

---

१ महा० शा० मो० पर्व २०५ अ० गणपत कृष्णाजी संस्करण शाके १७८५ ।
२ गीता २।१४ । ३ गीता २।१४ ।

हटेगा, सुख आवेगा। सुख आया, परन्तु इस अभिमान में पड़कर वह कर्त्तव्य से च्युत हो गया। यह और भी बुरा है। इसे ध्यान में रखना चाहिए कि यह सुख भी आगन्तुक है, एक दिन अवश्य ही जाने वाला है। इस प्रकार सुख-दुःख की आगमापायिता को लक्ष्य में रखते हुए पुरुष को सदा अपने कर्त्तव्य कर्म्म में दृढ रहना चाहिए। यदि सुख होना होगा तो वह हो ही जायगा, दुःख होना होगा तो वह भी हो ही जायगा। सुख-दुःख से भागने से ये द्वन्द्व कभी पीछा नहीं छोड़ते। कुछ द्वन्द्व तो ऐसे हैं, जो प्रकृति की प्रेरणा से हमारे ऊपर आक्रमण करते रहते हैं। सर्दी पड़ी, शरीर कांप गया। गर्मी पड़ी– पसीने चूने लगे। वर्षा हुई-वातपित्तकफादिदोष कुपित होगए। अब आप चाहें कि हमें ठंड न लगे, गर्मी न लगे, दोष विकृत न हों तो आपकी यह चाह व्यर्थ है। यही नहीं, यदि आप शान्तिपूर्वक इन प्राकृतिक द्वन्द्वों को सहते रहे तब तो फिर भी ये उत्पात न मचावेंगे। परन्तु–"**अरे सर्दी लगी, अरे गर्मी से मरे**" इस प्रकार इन से दूर भागेंगे तो ये और भी अधिक आक्रमण करेंगे। देखिए न! रात दिन पंखों के नीचे बैठे रहने वाले, तुषार की अहरहः उपासना करने वाले–व्यक्ति तितिक्षा के अभाव से ताप से व्याकुल बने रहते हैं। सर्दी में आपादमस्तक वस्त्रवेष्टन से भी इन्हें सन्तोष नहीं होता। उधर एक कृषक तितिक्षा के प्रभाव से सर्दी-गर्मी योंही निकाल देता है। यदि स्वास्थ्य दृष्टि से विचार किया जायगा तो एक सभ्यनामधारी नागरिक की अपेक्षा एक ग्रामीण व्यक्ति आपको अधिक सन्तुष्ट एवं स्वस्थ मिलेगा। और फिर बात तो यह है कि सुख-दुःखादि का आक्रमण हमारे रोके रुकता भी तो नहीं। शोक होना होगा, हो ही जायगा। अब यदि शोक की चर्वणा में ही हम बैठे रहें तो शोक कम होने की अपेक्षा और बढेगा। साथ ही में हम अपने आवश्यक कर्त्तव्यपालन में भी शिथिल हो जायेंगे। इसलिए हमें शोक-हर्षादि द्वन्द्वों को सहने की आदत डालनीं चाहिए। बर्दाश्त का माद्दा पैदा करना चाहिए। यही शोक को कम करने का उपाय है।

किसी बन्धु के मर जाने पर, धन छिन जाने पर, मन पर एक बार सहसा बडा आघात होता है। जो आघात पहिले क्षण में रहता है, दूसरे क्षण में उसका अभाव है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों दिन निकलते जाते हैं, त्यों त्यों सहते सहते आघात कम होता जाता है, कालान्तर में आघातजनित दुःख एकान्ततः विलीन हो जाता है। यही अवस्था सुख की है। किसी ने १० हजार रुपय्ये दिए, अथवा पुत्र उत्पन्न हुआ, क्षणमात्र के लिए मन में समृद्धानन्द का उदय होता है। ज्यों ज्यों दिन व्यतीत होते हैं, यह उछाल शान्त होती जाती है। कालान्तर में हम फिर वह के वही रह जाते हैं। किसी नई वस्तु पर जब हम प्रथम प्रथम दृष्टिपात करते हैं तो मन में उसे बार बार देखने की उत्कण्ठा होती है। एक-दो-दस-बीस बार देखने से क्रमिक अभ्यासवश कालान्तर में उत्कण्ठा अपने आप शान्त हो जाती है–"**अतिपरिचयादवज्ञा**"। यह प्रकृति का एक स्वाभाविक नियम है। शोक-हर्ष-उत्कण्ठा-जिज्ञासा समय पाकर उठती हैं, समय पर शान्त हो जाती हैं। इस प्रकृतिसिद्ध नियम में आप यदि कृत्रिम प्रयत्न का समावेश कर देंगे तो तत्काल अथवा प्राकृतिक काल की अपेक्षा कम समय में ही शोक-हर्षजनित क्षोभ शान्त हो जायगा। यदि यह अभ्यास सिद्ध हो जायगा, दूसरे शब्दों में यदि तितिक्षा का अन्तःकरण में उदय हो जायगा तो प्रत्याघात काल में भी दुःख का उदय न होगा। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक व्यक्ति जरा से आघात से रो पड़ता है, काम काज छोड़ बैठता है, एक व्यक्ति आघात से थोड़ी देर के लिए क्षुब्ध होता है, परन्तु फिर जल्दी

ही संभल जाता है। एक धीर जरा भी क्षुब्ध नहीं होता। यथापूर्व अपनें कर्त्तव्य पर दृढ़ रहता है। भगवान् कहते हैं कि जब तक इन्द्रिएँ हैं, जब तक इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्बन्ध है तब तक संयोग जनित हर्ष-शोक का उदित होते रहना अनिवार्य है। विश्वप्रकृतिसिद्ध प्राकृतिक शोक से उत्पन्न दुःख जनित आघात कभी नहीं रोका जा सकता। हां, तुम अपनी प्रकृति को तितिक्षा के अभ्यास से रोक कर शोक-हर्ष की उपेक्षा कर सकते हो। दूसरा उपाय वैराग्य है। वैराग्य है–अनासक्ति। वैराग्य है–वस्तु विवेक। वैराग्य है–निष्काम कर्म्म का अनुष्ठान। "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"–इस पातञ्जल[1] सिद्धान्त के अनुसार अभ्यास–और वैराग्य के द्वारा ही शोक-हर्षजनित क्षोभ का दमन किया जा सकता है, जैसाकि भगवान् आगे जाकर निम्नलिखित रूप से स्पष्टीकरण करने वाले हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥[2]

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।[3]

"शोक होना स्वाभाविक है। परन्तु शोक का सम्बन्ध आत्मा से नहीं, अपितु मात्राओं से, दूसरे शब्दों में मात्रायुक्त भूतात्माओं के साथ है। सभी द्वन्द्व मात्रायुक्त भूतात्मा से सम्बन्ध रखते हैं। इस विवेक ज्ञान से जब तेरी दृष्टि मात्राविरहित अव्यय पर चली जायगी तो तेरा स्वाभाविक शोक अपने आप निवृत्त हो जायगा" वैराग्यबुद्धिलक्षण विवेकज्ञानौपयिक यह पहिला उपाय भगवान् ने पूर्वार्द्ध से बतलाया। "वैराग्य में यदि तू असमर्थ है तो फिर इन्हें अनित्य समझता हुआ इनको सहने की आदत डाल, शोक से घबराकर स्वकर्म्म का परित्याग मत कर" यह अभ्यासरूप दूसरा उपाय उत्तरार्द्ध से बतलाया। इस प्रकार भगवान्ने अब तक शोकनिवृत्ति के अधिकारी भेद से तीन मार्ग बतलाए।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥[4]

धीर विद्वान् की दृष्टि में आत्मा अजर अमर है, व्यापक है। जो उत्तम मनुष्य आत्मा की इस व्यापकता का अनुभव कर लेते हैं, उन्हें कभी शोक हो ही नहीं सकता।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुख-दुःखदाः।[5]

यदि मध्यम श्रेणी के मनुष्यों की दृष्टि भूतात्मा पर ही है, तब क्या उपाय? भगवान् कहते हैं, भूतात्मा पर दृष्टि रखने वाले मध्यमाधिकारियों को भी शोक नहीं करना चाहिए। उन्हें आत्मा-और

---

१ पात० यो० सू० १।१२। २ गीता ८।८। ३ गीता ६।३५।
४ गीता २।१३। ५ गीता २।१४।

मात्राओं का विवेक करते हुए यह विचारना चाहिए कि सुखदुःखादि का तो इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध है। आत्मा तो स्वस्वरूप से सर्वथा नित्य एवं असंग ही है।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।[1]

जो प्रथमाधिकारी उक्त वैराग्यलक्षण विवेक करने में भी असमर्थ हैं, उनके शोक को दूर कैसे किया जाय? भगवान् कहते हैं–"यह सर्व साधारण को विदित है कि सुख-दुःख आगमापायी होने से सर्वथा अनित्य हैं। इन्हें कम करने का उपाय है, तितिक्षा। सहने का अभ्यास पैदा करो। कालान्तर में इस अभ्यास से शोक के अवसरों पर भी तुम्हें शोक न होगा।

इस प्रकार लोकसंग्राही भगवान् करुणावश तीनों अधिकारियों के लिए तीन उपाय बतला रहे हैं—

१–उत्तमाधिकारी (परमार्थदृष्टिपरायणः) :—

परमात्मदृष्टि में शोक का आत्यन्तिक अभाव है।

२–मध्यमाधिकारी (व्यावहारिकदृष्टिपरायणः) :—

भूतात्मवादी को आत्मा और मात्राविवेक से शोक नहीं होता।

३–प्रथमाधिकारी (प्रातिभासिकीदृष्टिपरायणः) :—

यथाजात को सहनशक्तिद्वारा शोक कम करना चाहिए।

———o———

उक्त अधिकारी भेद से पाठक प्रश्न करेंगे कि अर्जुन कौनसा अधिकारी था? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि अर्जुन उत्तमाधिकारी था। अर्जुन सामान्य पुरुष नहीं था। नर का अवतार था। थोड़ी देर के लिए अवश्य ही इसे भूतात्मानुगत मध्यमवर्ग के चक्र में फंस जाना पड़ा था। बस उसी समय भगवान् इसे सावधान करते हैं कि अर्जुन! तू न सामान्याधिकारी सामान्य मनुष्य है, न मध्यमाधिकारी पुरुष है, अपितु तू उत्तमाधिकारी पुरुष श्रेष्ठ है, पुरुषर्षभ है। दुःख-सुख को समान समझने वाले धीर पुरुष श्रेष्ठ को कभी मात्रास्पर्श पीड़ित नहीं कर सकते। परमात्मलक्षण अव्ययरूपअमृत को पहिचान कर, तद्भावापन्न होनेवाला ही तो पुरुषश्रेष्ठ कहलाता है। वही तो अव्यय के दर्शन करता हुआ उत्तमाधिकारी कहलाता है। इस प्रकार–"**यं हि न व्यथयन्त्येते**" इत्यादिरूप से भगवान् अर्जुन को उसी परमात्मभावरूपअव्यय की ओर आकर्षित कर रहे हैं। भगवान् की दृष्टि में यही पथ उत्तमपथ है। उत्तमपथानुगामी ही उत्तमपुरुष के दर्शन का अधिकारी है। वही अव्ययब्रह्म के साथ समता प्राप्त कर सकता है, जैसाकि अभियुक्त कहते हैं—

---

१ गीता २।१४।

दिवाकरो गुणमुपलभ्य निर्गुणो यथाभवेदपगतरश्मिमण्डलः ।
तथा ह्यसौ मुनिरिह निर्विशेषवान् स निर्गुणं प्रविशति ब्रह्म चाव्ययम् ।।[1]

अनागतं सुकृतवतां परां गतिं स्वयंभुवं प्रभवनिधानमव्ययम् ।
सनातनं यदमृतमव्ययं ध्रुवं निचाय्य तत्परममृतत्वमश्नुते ।। [1]

अनादित्वादनंतत्वात्तदनंतमथाव्ययम् ।
अव्ययत्वाच्च निर्दुःखं द्वन्द्वाभावस्ततः परम् ।।[2]

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।[3]

।। इति ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषदि्द्वतीयोपदेशः ।।

---

१ महा० शा० मो० पर्व २०६।३१।३२ गणपत कृष्णाजी संस्करण शाके १७८५ ।
२ महा० शा० मो० पर्व २०६।१६ गणपत कृष्णाजी संस्करण शाके १७८५ ।
३ कठोप० २।२।११ ।

तृतीयोपदेशः

३ (क)–अस्ति हि देहभृत्यव्ययात्मनि सदसद्द्वन्द्वे असतः शरीरादेः कार्य्यस्य सत्त्वम्। सतस्तु कारणस्यात्मनो ऽसत्त्वमनुपपन्नमिति विज्ञानसिद्धान्तः।*

१–नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ (गीता २।१६)

[मूलानुवाद]—"असत् पदार्थ की कभी सत्ता नहीं है एवं सत्पदार्थ का कभी अभाव नहीं है। तत्त्वदर्शी वैज्ञानिकोंने इन दोनों पदार्थों के तात्त्विकस्वरूप को भलीभांति देख लिया है।"

[भाष्य]—प्राकृतिकशोकसमुत्थान के लिए भगवान् ने अधिकारीभेद से तीन उपाय बतलाए। इन तीनों में सब से अन्त का उपाय था तितिक्षा। सुखदुःखादि आगमापायी हैं, अतएव अनित्य हैं। साथ ही में इनका समय समय पर आक्रमण होना प्रकृतिसिद्ध नियम है। फलतः इनको सहने का ही अभ्यास करना चाहिए। बात है तो ठीक। परन्तु है बडी जटिल समस्या। सहते जायं, परन्तु कब तक? सहने से जहाँ शोकादि के आघात का अनुभव कम होगा, वहाँ इस अभ्यास के कारण यह हमारी खुराक बन जायगी। संभव है अभ्यास द्वारा थोड़े समय में ही आत्मा में दृढता आ जाय। सम्भव है जीवनपर्यन्त अभ्यास करते रहने पर भी शोक की उच्छित्ति न हो। सच पूछिए तो–"**सहते रहो, सहते सहते शोक अपने आप कम हो जायगा, सहने की आदत पड़जाने से शोक का अनुभव न होगा।**" यह उत्तर बहुत ही साधारण कोटि का है। एक आदमी के बीमारी होती है। डाक्टर कहता है–इञ्जेक्शन लगाने पड़ेंगे। पहिली बार उसे बडी पीड़ा होती है। सहने की आदत हो जाने से वह कुछ समय में आदि हो जाता है।

*–देह धारण करने वाले अव्ययात्मा में प्रतिष्ठित सदसद्द्वन्द्व में असत् शरीर कभी सत् नहीं बन सकता, सत् आत्मा कभी असत् नहीं बन सकता–यह निश्चित सिद्धान्त है। अर्थात् सल्लक्षण आत्मा का कभी अभाव नहीं होता, एवं असल्लक्षण शरीर की कभी सत्ता नहीं होती। वैज्ञानिकों ने पूर्ण परीक्षा के अनन्तर सदसद्द्वन्द्व के सम्बन्ध में अपना उक्त सिद्धान्त प्रकट किया है।

अज्ञानं-तस्य शरणम्" । सुनते हैं, दक्षिण प्रान्त के सुप्रसिद्ध तांतिया भील ने (जोकि तांत्या मामा नाम से प्रसिद्ध था) जब पहले पहल एक पथिक को मारा तो उसे कई दिनों तक शान्ति न मिली । अन्तरात्मा बडा क्षुब्ध रहा । वह अपने बारे में कहा करता था कि मुझे आरम्भ में तो बडा पश्चात्ताप हुआ था, परन्तु उसके बाद मैंने सैकड़ों ही मनुष्यों को मारा होगा परन्तु मुझे कभी क्षोभ नहीं हुआ । उसके चिरकालिक अभ्यास का यही तो फल था । यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जायगा तो सचमुच यह अभ्यासमार्ग एक साधारण मार्ग प्रतीत होगा । लौकिक मनुष्य अज्ञानवश अन्य उपाय करने में असमर्थ हैं । इस दृष्टि से अभ्यासरूपा उक्त तितिक्षा अच्छी है, परन्तु उत्तममार्ग तो यही है कि शोक आक्रमण ही क्यों करें ? इस का एकमात्र उपाय है-**ज्ञानमार्ग/सदसद्विवेक** । यह ध्रुव सत्य है कि तत्त्वज्ञान के पश्चात् शोक के अवसर पर न शोक आक्रमण करता, न हर्ष के अवसर पर सुख का आक्रमण होता । भगवान् इसी तात्त्विकदृष्टि के अनुगामी हैं । इसीलिए तितिक्षाभाव के अनन्तर ही-"**यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ**" इत्यादिरूप से उन्होंने ज्ञानयोगसिद्ध तात्त्विक भाव को ही प्रधानता दे डाली है । अर्जुन यदि भगवान् से यह प्रश्न करे कि भगवन् ! इस तितिक्षा की अवधि क्या है ? कब तक सहते रहेंगे ? न मालूम कब अभ्यास सिद्ध होगा ? मुझे तो शोक इस समय हो रहा है । न क्षणमात्र में अभ्यासयोग सिद्ध होगा, न तितिक्षाभाव पैदा होगा । शोक हटेगा नहीं । फलतः युद्ध में प्रवृत्ति होगी नहीं । इस पर भगवान् कहते हैं-**श्रोम्** । ठीक है । इसीलिए तो हमने तुझ से कहा था कि यदि तू वास्तव में शान्ति चाहता है तो मूलद्वन्द्व का उच्छेद कर । पाठकों को स्मरण होगा, हमने **मूल-तूल** भेद से दो प्रकार के द्वन्द्व बतलाए थे । साथ ही में यह भी कहा था कि **सदसद्द्वन्द्व** को ही मूलद्वन्द्व कहा जाता है । इसके आधार पर मात्रास्पर्शादि तूलद्वन्द्व प्रतिष्ठित रहते हैं । यह एक ध्रुव नियम है कि जब तक कारण विद्यमान रहता है, तब तक कार्य की प्रवृत्ति अनिवार्य है । मूलसत्ता अवश्य ही तूलप्रवृत्ति की सञ्चालिका बनी रहती है । ऐसी अवस्था में जब तक मूलद्वन्द्व सुरक्षित है, तब तक तूलद्वन्द्वों का आक्रमण नहीं रोका जा सकता । ऐसी दशा में मूलद्वन्द्व का उच्छेद किए बिना यदि कोई व्यक्ति तूलद्वन्द्वों के उच्छेद की कामना करता है तो यह उसका निरा भोलापन है । सूर्य हो और रश्मिएँ न निकलें-असम्भव । उक्थ हो और अर्क न निकले, यह प्रकृति (स्वभाव) विरुद्ध है । सांसारिक तूलद्वन्द्व रश्मिस्थानीय हैं, सदसद्द्वन्द्व उक्थस्थानीय है । जब तक उक्थ रहेगा, अर्क अवश्य निकलेंगे । फलतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि जब तक मूल द्वन्द्वरूप सदसद्द्वन्द्व रहता है, दूसरे शब्दों में सदसद्द्वन्द्वमूलक, अतएव विशेषभावप्रवर्त्तक, अतएव विशेषभावापन्न विश्वानुगत भूतात्मा पर हमारी दृष्टि रहती है, तब तक सिवाय तितिक्षा के उन मूलद्वन्द्वों की चिकित्सा का और कोई उपाय नहीं है । उक्थ प्रतिष्ठित निर्बाध रूप से तूलद्वन्द्व भूतात्मा पर आक्रमण अवश्य ही करते रहेंगे । इन्हे सहने का अभ्यास करो । यदि यह चाहते हो कि इन तूलद्वन्द्वों का समूल ही विनाश हो जाय तो इसके लिए आपको जिस कारण से ये मूलद्वन्द्व प्रवृत्त हुए हैं, किंवा होते रहते हैं, उसका नाश करना पड़ेगा । कार्यनिरोध के लिए कारण का निरोध करना पड़ेगा । जिस दिन मूलद्वन्द्व उच्छिन्न हो जायगा, उस दिन न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी । "**छिन्ने मूले नैव शाखा न वृक्षः**" इसी आधार पर लोक में भी यह किंवदन्ती प्रचलित है कि-"**चोर को क्या मारे, चोर की मा को मारे ।**" हां तो निष्कर्ष यह निकला कि तूलद्वन्द्वविनाश के लिए मूलद्वन्द्वविनाश अपेक्षित है । प्रश्न यह है कि जिस

प्रकार तूलद्वन्द्व के आक्रमण को अभ्यास द्वारा भुलाया जाता है, क्या मूलद्वन्द्व के सम्बन्ध में भी तितिक्षा ही करनी पड़ेगी ? भगवान् कहते हैं–नहीं । वहाँ तितिक्षा से काम न चलेगा । कारण, वह तुम्हारे मनोव्यापार एवं बुद्धिव्यापार से परे की वस्तु है । उसका उपाय है एकमात्र–**ज्ञानास्त्र** । केवल तत्त्वज्ञान से ही तुम उस मूलद्वन्द्व का उच्छेद कर सकते हो । ज्ञानमय असि (तलवार) के अतिरिक्त सदसद्द्वन्द्व प्रयत्न-सहस्रों से भी तुम मूलद्वन्द्व को नहीं काट सकते । जब तक मूलद्वन्द्व रहेगा तब तक अवश्य ही तूलद्वन्द्वों का आक्रमण होगा । जब तक तूलद्वन्द्व आते जाते रहेंगे, तब तक अवश्य ही हर्ष-शोक का उदय होता रहेगा । शोकात्यन्तनिवृत्ति का एकमात्र उपाय है–आत्मा के सत्-असत्लक्षण दोनों तत्त्वों का सम्यक् परिज्ञान । यही वास्तविक आत्मज्ञान होगा । इस ज्ञान से मूलद्वन्द्व का विनाश होगा । इसके अतिरिक्त आत्यन्तिक शोकोन्मूलन के अन्य मार्ग का एकान्ततः अभाव है । जैसाकि–"**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**" इत्यादि यजुःश्रुति से स्पष्ट है । उपनिषत् श्रुति भी इसी पक्ष का समर्थन करती है । देखिए–

यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।[1]

जिस दिन मनुष्य महाविशाल आकाश को चर्म्मवत् अपने शरीर के चारों ओर लपेट लेंगे, उसी दिन आत्मदेव को बिना पहिचाने दुःख का अन्त होगा । अर्थात् जिस प्रकार आकाश को चर्म्मवत् शरीर के चारों ओर लपेटना सर्वथा असम्भव है, एवमेव बिना सदसद्विवेक लक्षण आत्मज्ञान के दुःख का निरोध करना सर्वथा असंभव है । बस प्रकृत प्रकरण से भगवान् उसी सदसद्विवेक का स्वरूप अर्जुन के सामने रखते हैं ।

सदसद् का स्वरूप बतलावें, इसके पहले पाठकों को हम यह बतला देना चाहते हैं कि गीता व्याख्याताओं ने इस श्लोक को **आत्मसत्यत्व** एवं **जगन्मिथ्यात्त्व** का प्रतिपादक मानने की चेष्टा की है । हम इस पक्ष से कभी सहमत नहीं है । हमारी दृष्टि में आत्मा भी सत्य है, विश्व भी सत्य हैं । सत् आत्मा भी सत्य है, असत् विश्व भी सत्य है । इन दोनों का द्वन्द्व भी सत्य है । यदि सभी सत्य हैं तो फिर दुःख क्यों होता है ? इसका कारण है–असत् को सत् समझ लेना, एवं सत् को असत् समझ लेना । तत्त्वविभागदृष्टि का अभाव ही दुःख का कारण है । यदि दोनों तत्त्वों का पार्थक्य समझ लिया जाता है तो शोक का अवसर ही नहीं आता है, भगवान् का यही तात्पर्य है । यदि व्याख्याताओं के मतानुसार असत्तत्त्व मिथ्या होता तो भगवान् उसे "**तत्त्व**" शब्द से कभी सम्बोधित न करते । भगवान्–"**उभयोरपि दृष्टोऽन्तः**" इत्यादि रूप से दोनों को **तत्त्व** शब्द से सम्बोधित कर रहे हैं । क्या तत्त्व कभी मिथ्या हो सकता है ? ऐसी स्थिति में भगवान् का यही अभिप्राय मानना पड़ता है कि तत्त्व दोनों ही शाश्वत हैं । फलतः सदसद्द्वन्द्व भी शाश्वत है । भूल केवल यही हो रही है कि तत्त्वों के समझने में गड़बड़ है । असत् तत्त्व को सत् समझा जा रहा है, एवं सत् को असत् समझा जा रहा है । यही भूल शोकोदय का कारण है ।

१ श्वेता० उप० ६।२० ।

सचमुच यह एक बडी ही जटिल समस्या है कि यदि आत्मा व्यापक है, एकरूप है, तो उससे नानाभावरूप व्याप्य विश्व उत्पन्न कैसे हुआ ? यदि विश्व सत्य है तो फिर विश्वोत्पादक आत्मा व्यापक कैसे हुआ ? इसी समस्या को हल करने के लिए व्याख्याताओं ने विश्व को मिथ्या मानने का विफल प्रयास किया है । उनके जगन्मिथ्यात्ववाद का निष्कर्ष यही है कि श्रुतिने आत्मा को व्यापक बतलाया है। एकरूप माना है । ऐसे आत्मा से नानाभावात्मक विश्व कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकता । फलतः हम जिसे विश्व कहते हैं, वह उसी प्रकार हमारी भ्रान्ति है, जैसे कि सर्वथामिथ्या सर्प की रज्जुमें, सर्वथा मिथ्या रजत की शुक्तिमें, सर्वथामिथ्या पुरुष की स्थाणु में भ्रान्ति होजाया करती है । असल में विश्व नाम का सत्तासिद्ध कोई पदार्थ है ही नहीं । केवल आत्मा ही सत्य है और सब प्रपञ्च मिथ्या है। सारा विश्व एक स्वप्न है । जिस प्रकार स्वाप्नजगत् नितान्त मिथ्या है, एवं जागने पर जैसे स्वाप्नजगत् के मिथ्यात्व का साक्षात्कार हो जाता है, ठीक इसी प्रकार यह विश्व भी आत्मा के लिए एक स्वप्न है। जब तक आत्मबोधरूप जाग्रदवस्था का उदय नहीं होता, तब तक हम इस विश्वरूप स्वप्न को सत्य मानते रहते हैं । आत्मबोध होने पर इसका मिथ्यात्व सर्वथा प्रत्यक्ष हो जाता है ।

इस प्रकार व्याख्याताओं ने बडे आटोप के साथ जगन्मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है । भारतवर्ष के प्रायः सभी विद्वान् इसी मत के अनुयायी हैं। सर्वत्र-' **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या-नेह नानास्ति किञ्चन**" इस कल्पित वाक्य का घण्टाघोष सुनाई पड़ रहा है । परन्तु आज हम अपने गीताभक्तों को प्रचलित उक्त विश्वास के ठीक विरुद्ध ले जाते हुए विश्व की सत्यता की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। पहले तो हमारी दृष्टि में उन दृष्टान्तों का ही कोई मूल्य नहीं है, जिन्हें व्याख्याता लोग जगन्मिथ्यात्व का उपोद्बलक मान रहे हैं । रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है, यह ठीक है । साथ ही में यह प्रतीति हमारी भ्रान्ति है, यह भी ठीक है । परन्तु इससे यह कैसे सिद्ध हो गया कि रज्जु तो सत्य है; और सर्प मिथ्या है । रज्जु भी एक सत्तासिद्ध पदार्थ है, सर्प भी एक सत्तासिद्ध पदार्थ है । इन दोनों का संस्कार हमारे प्रज्ञानमन पर प्रतिष्ठित है । होता यह है कि प्रकाश की कमी, दृष्टि की कमी आदि दोषों से रज्जु को हम भलीभांति नहीं देख सकते । हमारे अन्तःकरण में सर्प का संस्कार भी मौजूद है । आलोक की कमी से वह संस्काररूप सर्प उस रज्जु में प्रतिष्ठित हो जाता है । इसीलिए हम थोड़ी देर के लिए रज्जु को सर्प समझ बैठते हैं । यह सांस्कारिक सर्प भी मिथ्या नहीं है । हाँ, केवल भातिसिद्ध होने से यह असत् जरूर है । इस असत् सांस्कारिक सर्प का सत्तासिद्ध अतएव सत् रज्जु के साथ सम्बन्ध हो जाने से, दूसरे शब्दों में असत् सर्प को सत् समझ लेने से एवं सत् रज्जु के असत् मान बैठने से भी भ्रान्ति का उदय होता है। भ्रान्ति का मूल मिथ्या नहीं है, अपितु सत् असत् का विवेक न होना भ्रान्ति का मूल है । यही दशा शुक्ति-रजत दृष्टान्त की है । हाँ-आपका प्रबल दृष्टान्त है-स्वाप्न-जगत् । आप कहते हैं-स्वप्न में हम अपने आपको राजा देखते हैं । कभी-कभी ऐसा भी देखते हैं कि हम मर गए हैं. हमें लोग श्मशान की ओर ले जा रहे हैं । हम यह सारा दृश्य देख रहे हैं । भला यह कैसे सम्भव हो सकता है ? मरने वाला क्या अपनी शमशान यात्रा देख सकता है ? फिर यह मरा भी कहाँ है । फलतः स्वाप्न-जगत् के ये सभी दृश्य नितान्त मिथ्या हैं । हम कहते हैं; आपका यह कथन ही नितान्त मिथ्या है । स्वप्न में जो कुछ दिखलाई पड़ता है, सब सत्य है । स्वाप्नजगत् के सम्बन्ध में श्रुति का यह सिद्धान्त है कि स्वप्न में वही

वस्तु दिखलाई पड़ती है, जिसे हम जाग्रदवस्था में प्रत्यक्ष देख लेते हैं। यह प्रत्यक्षज्ञान विषयदर्शन से भी होता है एवं शब्दश्रवण से भी होता है। हमने इंग्लैण्ड कभी नहीं देखा। परन्तु तत्सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन किया है। अथवा तो इंग्लैण्डयात्रियों के मुख से वहाँ का हाल सुना है। यही शाब्दप्रत्यक्ष है। इससे भी आत्मा पर संस्कार हो जाता है। विषयदर्शन से तो संस्कार का होना सिद्ध है ही। हमने जाग्रदवस्था में शव देखा था, शव को ले जाने वाले आदमियों को देखा था। इन सब का संस्कार आत्मा में प्रतिष्ठित है। सब संस्कार भातिसिद्ध बनते हुए "असत्" हैं। अहंशब्दवाच्य आत्मा सत् है। दोनों ही सत्य हैं। सत् आत्मा का उन असत् संस्कारों के साथ जो प्रकृतिसिद्धयोग है, वह भी सत्य हैं। हाँ, असत् संस्कारों को सद्रूप आत्ममय समझ लेना एवं सत् आत्मा को असत् संस्कारमय मान लेना अवश्य ही असत्य है। यही स्वाप्नजगत् है। सत् को असत् मान बैठने से, असत् को सत् मान बैठने से ही उक्त भ्रान्तिमूलक शोक का उदय हुआ है। भ्रान्ति का मूल असत्य नहीं है, अपितु तत्त्वविवेकाभाव है। अपिच मिथ्याभाव कभी कार्य्य का जनक नहीं बनता। उधर स्वप्न में हम रेतःस्खलन देखते हैं। यदि स्वाप्नजगत् मिथ्या होता तो यह वीर्य्यपात कभी सम्भव न था। इसलिए आपको मानना पड़ेगा कि स्वाप्नजगत् अवश्य ही सत्य है। तभी तो–**"सन्ध्ये सृष्टिराह हि" "सूचकश्च हि"–"आचक्षते च तद्विदः"** इत्यादिरूप से स्वप्न को शुभाशुभ फल का सूचक माना जाता है। उन सत्य असदात्मक संस्कारों से सदात्मक सत्य आत्मा नई सृष्टि बनाया करता है। आप पूछेंगे–फिर जाग्रदवस्था में वह सृष्टि उपलब्ध क्यों नहीं होती ? हम कहेंगे–जाग्रदवस्था में सूर्य्य चन्द्रमादि आपके घर में क्यों नहीं उतर आते ? इंग्लैण्ड राजपूताने में क्यों नहीं आ जाता ? दिन में चन्द्रमा प्रकाश क्यों नहीं करता ? आपको मानना पड़ेगा कि प्रत्येक सृष्टि का अपना-अपना लोक सर्वथा स्वतन्त्र है। शर्करा न हो और रसनेन्द्रिय में मधुर रस का अनुभव होने लगे–यह असम्भव है। चन्द्रिका का लोक नियत है, वह रात्रि है। आप रात कर दीजिए, चन्द्रिका हो पड़ेगी। इसी प्रकार स्वप्नावस्था एक स्वतन्त्र लोक है, जाग्रदवस्था एक स्वतन्त्र लोक है। स्वप्न-लोक में प्रतिष्ठित सांस्कारिक पदार्थ भी सत्य हैं, जाग्रल्लोक में प्रतिष्ठित पदार्थ भी सत्य हैं। उनका विकास अन्तर्जगत् से सम्बन्ध रखता है, इनका विकास बहिर्जगत् से सम्बन्ध रखता है। एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न दो लोकों में जाता हुआ भिन्न-भिन्न सत्यों का भोक्ता बन रहा है। आपके पास इंग्लैण्ड नहीं आ सकता, आप वहाँ जायेंगे तो उसका प्रत्यक्ष हो जायगा। जयपुर में इंग्लैण्ड नहीं हैं, इसलिए इंग्लेण्ड मिथ्या है–यह मानना क्या साहस नहीं है ? देखिए ! श्रुति स्पष्टशब्दों में स्वाप्न-जगत् को आत्मा की विभूति बतला रही है—

१–तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः–इदं च, परलोकस्थानं च। सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्। तस्मिन्संध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यति, इदं च परलोकस्थानं च।[1]

२–स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्॥[2]

१ बृ०आ०उप० ४।८।९ २ बृ०आ०उप० ४।३।१३।

३–अथो खल्वाहुः–जागरितदेश एवास्यैषः । यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति, तानि सुप्ते—इति ।"[1]

यदि श्रुतिसिद्ध स्वाप्नज.गत मिथ्या है तो श्रुतिसिद्ध स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य, आदि सब मिथ्या हैं । फिर तो यह आस्तिक मत क्या रहा, **"न स्वर्गो नापवर्गो वा०"** इत्यादिलक्षण नास्तिकमत हो गया । जब आप श्रुतिसिद्ध विश्व को सत्य नहीं मानते तो, श्रुतिसिद्ध आत्मा की सत्यता कैसे सुरक्षित रख सकेंगे ? अपि च आपको यह विदित है कि आत्मा को–"अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि रूप से 'अहं कहा जाता है । **"तस्योपनिषदहमिति"–"अहमेवहाधस्तादहमुपरिष्टात्"** इत्यादि श्रुतियाँ भी आत्मा का **अहं** शब्द से ही अभिनय कर रही हैं । अब विचार कीजिए-गीताने अहशब्द से किस तत्त्व का ग्रहण किया है ? यदि गीता आपके मतानुसार विश्व को मिथ्या मानती हुई विशुद्ध सल्लक्षण आत्मा को ही अहंशब्द से व्यवहृत करती, तब तो हम भी प्रकृत श्लोक के सत् को सत्य तत्त्व एवं असत् को मिथ्या तत्त्व मान लेते । परन्तु आपको यह जानकर शोक होगा कि–**"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन"** इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में गीता ने अहंलक्षण आत्मा की व्याप्ति अमृतलक्षण सत्पदार्थ एवं मृत्युलक्षण **असत्** पदार्थ दोनों के साथ बतलाई है, उसी अहं की एक अवस्था का नाम सत् है, उसी की अपर अवस्था का नाम असत् है । असत् भी वही है, सत् भी वही है । अब यदि आप असत् को मिथ्या मानने लगेंगे तो-सत् का सत्यत्व किस आधार पर सुरक्षित रख सकेंगे ? यही नहीं–**"असत्यमप्रतिष्ठिन्ते जगदाहुरनीश्वरम्"** इत्यादिरूप से भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में उन महानुभावों की भर्त्सना की है जो जगत् को असत्य मान रहे हैं । अपिच आत्मा ब्रह्म है । एवं–**"नित्यंविज्ञानमानन्दं ब्रह्म"–"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को सच्चिदानन्दघन बतला रही हैं । साथ ही में–**"ब्रह्मैवेदं सर्वम्"–"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"–"प्रजापतिरेवेदं सर्वं यदिदंकिञ्च"** इत्यादि श्रुतियां स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म को ही विश्व का मूल कारण मानती हुई सब को ब्रह्मरूप बतला रही हैं । यही नहीं– **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशान्ति, तद् ब्रह्म, तद्विजिज्ञासस्व" "मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" "एकांशेन जगत् सर्वम्" "मयि सर्वमिदं प्रोतम्" "भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः" "इमे लोका, इमे वेदा, इमे देवा, इमे यज्ञा, इमानिभूतानि, इदं सर्वं यदयमात्मा" "स विश्वकृत् सहि विश्वस्य कर्त्ता, तस्य लोकः, स उ लोक एव"** इत्यादि श्रुतिस्मृतियाँ स्पष्ट ही आत्ममूल विश्व को आत्ममय मानतीं हुई विश्व की सत्यता दृढ कर रही हैं । अपिच–**"नामरूपे तु मायिके"** जिस इस कल्पित वाक्य द्वारा आप मायिक नामरूपात्मक विश्व की मिथ्यता सिद्ध करने चले है, ठीक आपके सिद्धान्त के विरुद्ध–**"नामरूपे सत्यम्"**[2] इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में श्रुति उसी विश्व की सत्यता प्रकट कर रही है । इन सब प्रमाणों के होते हुए भी जो महानुभाव विश्व को मिथ्या ही देखते हैं, उनके लिए–**"चक्षुर्दोषादुलूकोऽयं सूर्य्यज्योतिर्न पश्यति"**–**"नह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति"** इन पुरस्कारों के अतिरिक्त हमारे पास और क्या है ?

अलमतिपल्लवितेन । प्रकृत विषय का विचार कीजिए । यह ठीक है कि विश्व मिथ्या नहीं है, साथ ही में यह भी ध्रुव सत्य है कि आत्मा कभी असत् नहीं है, इसके साथ ही यह भी ठीक है कि आत्मा

१ बृहदा०उप० ४।३।१४ । २ बृ०आ०उप० १।६।३ ।

से ही विश्व का विकास हुआ है। सभी बातें ठीक हैं, परन्तु परस्पर में सर्वथा विरुद्ध हैं। इस विरोध-परिहार के लिए सारे झंझटों से बचने के लिए ही तो पूर्व व्याख्याताओं ने जगन्मिथ्यात्ववाद का आविष्कार किया था। जब संसार को मिथ्या मान लिया जाता है तो हम सब झंझटों से निर्मुक्त हो जाते हैं। परन्तु यह मुक्ति केवल कल्पना है। हमें विचार की कसोटी पर उन विरुद्ध श्रुति बचनों का समन्वय करना पड़ेगा। साथ ही में इस समन्वय के लिए हमें सभी श्रुतियों को मुख्य मानना पड़ेगा। श्रुति में गौण-मुख्यभाव मानना सर्वथा अनुचित होगा। अब कुछ वचन ऐसे उपस्थित किए जाते हैं, जो सर्वथा विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन कर रहे हैं। पहले उन वचनों पर दृष्टि डालिए, जो आत्मा को सर्वथा व्यापक, द्वन्द्वातीत एवं सर्वथा असंग मान रहे हैं। इन वचनों से आप इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि आत्मा वास्तव में असंग पदार्थ है। न वह विश्व का कर्ता है, न कारण है। विश्व का उसके साथ यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है।

१–"स वाऽएष महानजआत्मा। अजरोऽमरोऽभयोऽमृतो ब्रह्म। अभयं वै ब्रह्म"। (शत० १४।७।२।३१)

**२–"विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः।
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः"** ॥ (बृ० आ० उप० ४।४।२०)

**३–"स एष नेति नेत्यात्मा। अगृह्यो न हि गृह्यते, अशीर्य्यो न हि शीर्य्यते,
असङ्गो-असितो न सज्जते, न व्यथते। नैनं कृताकृते तपतः"।** (बृ० आ० उप० ४।४।२२)

**४–"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे"** ॥ (गीता २।२०)

५–"न करोति न लिप्यते"। (गीता १३।३१)

६–"नासदासीन्नो सदासीत्"। (ऋग्वेद मं० १०।१२९।१)

७–"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"। (छा० उप० ६।२।१)

८–"न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्"। (बृ० आ० उप० ४।४।२३)

९–"अनुच्छित्तिधर्म्मा वा अयमात्मा"। (बृ० आ० उप० ४।५।१४)

अब ऐसे वचनों पर दृष्टि डालिए, जो आत्मा से ही विश्व की प्रवृत्ति मानते हैं। इन वचनों से आप इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि आत्मा ही विश्व का कर्ता बना है। वही अंशात्मना आलम्बन है, वही अंशात्मना निमित्तकारण है, वही अंशात्मना उपादानकारण है। देखिए श्रुति क्या कहती है—

१–प्रजापतिस्त्वेदं सर्वं असृजत यदिदं किञ्च । (शत० ब्रा० ६।१।२।११)

२–एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् । (ऋग्वेद मं० ८।५८।२)

३–त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः । (ऋग्वेद मं० १०।९०।४)

४–ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
(तै० ब्रा० २।८।९।६-७)

५–सोऽकामयत, स तपो ऽतप्यत्, सोऽश्राम्यत् । (शत० ब्रा० ६।१।१)

६–ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या । (शत० ब्रा० ६।१।१।१०)

७–तस्मादन्यं न परं किंचनास्ति । (अथर्वाशिरो उप० ७)

८–यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ।। (मुण्डक उप० १।१।९)

९–तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्म्मसु चामृतम् । (मुण्डक उप० १।१।८)

१०–पुरुष एवेदं विश्वं कर्म्म तपो ब्रह्म परामृतम् । (मुण्डक उप० २।१।१०)

११–पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् । (श्वेता० उप० ३।१५)

१२–विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमि जनयन् देव एकः ।। (श्वेता० उप० ३।३)

१३–यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्………………… ।। (श्वेता उप० ३।४)

१४–विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं–ईशं तं ज्ञात्वा । (श्वेता० उप० ३।७)

१५–य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु ।।
(श्वेता० उप० ४।१)

**१६–"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः"** । (श्वेता० उप० ४।२)

——०——

कीजिए मीमांसा, उक्त वचनों की। कीजिए विरुद्ध वचनों का समन्वय। वही श्रुति उसे असंग बतलाती है, वही श्रुति विश्वकर्त्ता मान रही है। इन दो विरुद्ध-भावों का समन्वय न तो जगन्मिथ्यावाद से हो सकता, एवं न आत्मा को परिच्छिन्न मानने से हो सकता है। इसका तो एकमात्र उपाय है–**सत्-असत्** तत्त्वों का परमार्थदृष्टि से अवलोकन। सत् तत्त्व को **अमृत** कहा जाता है। यह–तत्त्व दिग्देशकाल से सर्वथा अनन्त है। इसे ही विज्ञान-भाषा में हम **"रस"** कहेंगे। असत्तत्त्व **मृत्यु** नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही तत्त्वदर्शी विद्वान् "बल" नाम से सम्बोधित करते हैं। ये बल दिग्देशकाल से सीमित होते हुए भी संख्या से अनन्त हैं। रस भी अनन्त है, बल भी अनन्त है। इन दोनों अनन्तों की समष्टिरूप आत्मब्रह्म भी अनन्त है। रस जहाँ नित्यशान्त है, वहाँ बल नित्य अशान्त है, कुर्वद्रूप है। रस को एक प्रकार का असीम समुद्र समझिए, बल को ससीम तरंगें समझिए। रसात्मक समुद्र नित्यशान्त है, बलात्मिका तरङ्गें नित्य अशान्त हैं। खण्ड-खण्डात्मक ये असंख्य बल प्रतिक्षण अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त भावत्रयी के कारण असत् हैं। इन असत् बलों की आधारभूमि अखण्ड रस सत् है। सत् रस और असत् बलों के इस प्राकृतिक सम्बन्ध को ही **"सहचर"** सम्बन्ध कहा जाता है। सहचरसम्बन्धावच्छिन्न यह प्रथम द्वन्द्व संसृष्टि लक्षणा सृष्टिमर्य्यादा से सर्वथा बहिर्भूत है। इसी प्रथमावस्था को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने आत्मा को व्यापक, असंग, कार्यकारणातीत बतलाया है। यही मूलतत्त्व विज्ञानभाषा में–**"परात्पर-परमेश्वरअभयब्रह्म"** आदि नामों से प्रसिद्ध है। इसकी असंगता का जितना बखान किया जाय, थोड़ा है। व्यापक होने से ही यह वाङ्मनःपथातीत, अतएव अनिर्वचनीय, अतएव नेति-नेति शब्द से निर्धीत है।

आगे क्या होता है ? इस का उत्तर महामाया से पूछिए। पूर्वोपदेश में **मात्रा** का स्वरूप बतलाते हुए हमने **महामाया** का उल्लेख किया था। उन असंख्य असद्बलों को अपने गर्भ में रखने वाला सीमाभाव सम्पादक महाबल ही **"महामाया"** नाम से व्यवहृत होता है।

सर्वबलविशिष्ट रसघन अखण्ड परात्पर के जिस प्रदेश में माया का उदय होता है, वह प्रदेश सीमित हो जाता है। इस प्राथमिक सीमाभाव के उदय से वही व्यापक परात्पर अंशात्मना पुरुषरूप में परिणत हो जाता है। व्यापक परात्पर कामनाशून्य था। क्योंकि कामना मन का व्यापार है, मन हृदय में प्रतिष्ठित रहता है। हृदय परिच्छिन्न वस्तु का धर्म्म है। सुतरां उस व्यापक परात्पर में हृदयाभाव से निष्कामभाव सिद्ध हो जाता है। परन्तु वही मायापुर से सीमित बनकर हृदयभावयुक्त बनकर सकाम बन जाता है। इसकी इसी प्राथमिक कामना का–**"एकोऽहं बहुस्याम"** इस रूप से अभिनय किया जाता है। इस कामना से हुआ क्या ? सत् रस के साथ असत् बलों का ग्रन्थिबंधन। रस सर्वथा असंग है, उनके साथ ग्रन्थिबंधन असंभव है। ग्रन्थिबंधन असद् बलों का ही होता है, परन्तु कब ? जब कि रस सीमित बन जाता है तब। बल तो सदा ही परस्पर में मिलते एवं बिछुड़ते रहते हैं। परन्तु व्यापक रस

धरातल में उन्हें अपने आन्दोलन के लिए पर्याप्त स्थान मिल जाता है। अतएव ग्रन्थिबन्धन का अवसर नहीं आता। परन्तु माया की सीमा से रसधरातल सीमित बन जाता है। फलतः बलों को ग्रन्थि बंधन के लिए अवसर मिल जाता है। यही सत्-असत् का सम्बन्ध मान लिया जाता है। सहचर सम्बन्ध नित्य था, यह ग्रन्थिबंधनसम्बन्ध अपूर्व उत्पन्न हुआ। यही पहला मूलद्वन्द्व है। इसीका दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥[1]

यही पहला अव्यय पुरुषावतार है। आगे जाकर अव्यय पुरुष के हृदय से गतिलक्षण अक्षरपुरुष का विकास होता है, अक्षर से अर्थलक्षण क्षरपुरुष का विकास होता है। इस प्रकार एक ही पुरुष असद्बल की ग्रन्थि के तारतम्य से तीन स्वरूप धारण करलेता है। इनमें से अव्यय, विश्व का आलम्बन बनता है, अक्षर निमित्तकारण बनता है, क्षर उपादानकारण बनता है। क्षरदृष्टि से **आत्मा ही विश्व है,** अक्षर दृष्टि से **आत्मा ही विश्व का कर्त्ता है,** अव्ययदृष्टि से आत्मा न कर्त्ता है, न उपादान है, केवल आलम्बन साक्षीमात्र है। परात्परदृष्टि से आत्मा का विश्व के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। और आगे बढिए। क्षर से विकार उत्पन्न होते हैं, विकार से क्रमशः— **विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन** भावों का उदय होता है। पुरञ्जन से पुरभाव का उदय होता है। वे ही स्वयम्भू आदि पाँचों पुर भौतिक विश्व हैं। यह सब, असद्बलों की रसाधार पर ग्रन्थियों के तारतम्य का फल है। रस सर्वथा सत् है, इस सर्वथा सत् रस के आधार से सद्वत् प्रतीयमान असद्बल ही विश्व बना हुआ है। प्रत्येक पदार्थ में दोनों का साम्राज्य है। केवल प्रधानता अप्रधानता का तारतम्य है। आत्मा में भी रस-बल दोनों हैं, शरीर में भी रस-बल दोनों हैं। आत्मा रसप्रधान है, शरीर बल प्रधान है। दोनों में रस का भाग सदा शान्त ही रहता है, बल का भाग सदा अशान्त ही रहता है।

रस-बल इन दो विरुद्ध भावों के कारण ही विश्व में **सत्ता एवं भाति** इन दो भावों का उदय होता है। नित्य अविनाशी भाव का नाम **सत्ता** है, सतत परिवर्त्तित अनित्यभाव का नाम **भाति** है। **बल** का भाति से सम्बन्ध है, रस का सत्ता से सम्बन्ध है। सत्तारूप रस सदा एकरस ही रहता है, भातिरूप **बल** सदा नानाभावयुक्त ही रहता है। दोनों के आप सर्वत्र साक्षात् दर्शन एवं अनुभव कर सकते हैं। विश्व के जितने पदार्थ हैं, वे पदार्थत्वेन समान हैं, एकरूप हैं। यह सामान्यभाव सत्तात्मक रसमूलक है। इसीलिए सामान्य को **सत्ता** कहा जाता है। इस सामान्य सत्तारस के गर्भ में **"ये स्थावर पदार्थ हैं—जड़ हैं, ये जंगम पदार्थ हैं—चेतन हैं"** ये दो विशेषभाव प्रविष्ट हैं। ये दोनों भेद बलनिबन्धन हैं। पदार्थत्व जहाँ इनका सामान्य धर्म्म है, स्थावरत्व-जंगमत्व इनके विशेष धर्म्म हैं। केवल स्थावरत्त्व को सामान्य समझिए। इसके गर्भ में सूर्य्यत्व-चन्द्रत्व-पृथिवीत्व-आकाशत्व आदि अनेक विशेष भाव देखिए, ये सब बलनिबन्धन हैं। इसी प्रकार प्राणित्व जहाँ प्राणिमात्र का सामान्य धर्म्म है, वहाँ मनुष्यत्व-

---

१ ऋग्वेद मं० १०।१२९।४।

पशुत्व-पक्षित्व-कृमित्व-कीटत्व-देवत्वआदि विशेषधर्म्म हैं । इनमें भी ये सब जहाँ सामान्य-धर्म्म हैं, जहाँ ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व-वैश्यत्व, अश्वत्व-गजत्व-गर्दभत्व-गौत्व-अजत्व-अवित्व, काकत्व-मयूरत्व-पिकत्व-भृमरत्व-भ्रूणत्व-भ्रमरत्व-मक्षिकात्व-अग्नित्व-वायुत्व-द्वन्द्वत्व आदि विशेष धर्म्म हैं । ये भी आगे जाकर गौडत्व-द्रविडत्व-आदि भावों की अपेक्षा सामान्य धर्म्म बन जाते हैं । इस सामान्य-विशेष भाव की व्याप्ति आपको गुणभूतपर्यन्त मिलेगी । हाँ, एक भाव आपको सर्वथा सामान्य ही मानना पड़ेगा, एवं एक भाव सर्वथा विशेष ही मानना पड़ेगा । ये ही दोनों भाव **महतोमहीयान्**-एवं **अणोरणीयान्** नामों से व्यवहृत हुए हैं । वस्तुतः दोनों सामान्य ही हैं । जो महतो महीयान् है, वही अणोरणीयान् है । उक्त जितने भी सामान्य हैं, वे सब पूर्व सामान्यों की अपेक्षा विशेष हैं, एवं जितने भी विशेष हैं, वे उत्तर विशेषों की अपेक्षा सामान्य हैं । प्रत्येक में दोनों भाव निविष्ट हैं । इन दोनों में सामान्य-सामान्य भाग रसनिबन्धन हैं । एवं विशेष-विशेष भाव बल निबन्धन हैं । इन में सर्वसामान्य व्यापक रस है । वही पराशान्ति का कारण है । क्योंकि उसीमें बलग्रन्थि की आत्यन्तिक विमुक्ति है ।

केवल बल के तारतम्य से वही आत्मा पाषाण बन गया है । बलग्रन्थिविमोक से वही पाषाण किसी दिन सहचरभाव में आता हुआ परमात्मभाव में विलीन हो जायगा । इन दोनों में बल क्षणमात्र के लिए भी स्थिररूप नहीं हैं । यह नित्य परिवर्तनशील है । इसीलिए इसे असत् कहा जाता है । क्षोभ का कारण यह असत् बल नहीं है, अपितु असत् बल को सत् मान बैठना, साथ ही में सत्‌रस को असत् मान बैठना, दूसरे शब्दों में अनित्य बल में नित्य भावना कर लेना, नित्य रस में अनित्य भाव कर लेना ही क्षोभमूल शोक का कारण है । यही द्वन्द्वभाव है । सत् को असत् करके देखना ही सदसद्द्वन्द्व है । यही द्वन्द्वभाव शोक का मूल कारण है । यदि दोनों को पृथक् पृथक् करके देखा जाता है, जब यह समझ लिया जाता है कि सत्‌रस कभी असत् नहीं हो सकता, असत् बल कभी सत्‌रस नहीं बन सकता, रसप्रधान आत्मा के रसभाग का कभी विनाश नहीं हो सकता, बलप्रधान शरीर का बल-भाग कभी नित्य नहीं बन सकता तो कभी क्षोभ का अवसर नहीं आता । क्षोभ का अवसर आता है, परन्तु तात्त्विक भावना से असद्बल के वास्तविकस्वरूपपरिचय से रसप्रधान आत्मा पर इस बलमूलकक्षोभ का कोई असर नहीं होता । जिस शरीर को हमने जीवन के १०० वर्षों में सत् मान रक्खा है, यदि असद्बलदृष्टि से उसका विचार किया जाता है, तो प्रतिक्षण में उस की नश्वरता प्रकट हो जाती है, साथ ही जिस आत्मा का, शरीरविनाश पर, हमने वियोग समझ रक्खा है, यदि सद्‌रस की दृष्टि से उसका विचार किया जाता है तो उसकी नित्यता प्रकट हो जाती है । द्वन्द्वविनाश का यह तात्पर्य्य नहीं है कि रस-बल को अलग कर दिया जाय । अपितु रस को बल, बल को रस समझने की भावना का विनाश ही द्वन्द्वविनाश है । यह विनाशभाव केवल तत्वदर्शनरूप रूपसम्यग्ज्ञान पर ही निर्भर है । परमतवादी भी–"**सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**" इत्यादिरूप से इसी पक्ष का समर्थन कर रहे हैं ।

पूर्व में विश्वान्तर्गत जिन सामान्यविशेष भावों का दिग्दर्शन कराया गया है, उनकी जननी **योगमाया** है । महामाया से प्राथमिक द्वन्द्व का उदय होता है । योगमाया से विश्वान्तर्गत तूलद्वन्द्वों का उदय होता है । महामाया से ईश्वरसंस्था का उदय होता है, योगमायाओं से जीव-उपेश्वरादि अवान्तर

विभूतियों का उदय होता है। इस योगमाया के प्रधानरूप से **विष्णुमाया-शिवमाया, दैवीमाया** भेद से तीन विवर्त्त हैं। इन सबका विवेचन आगे होने वाला है। प्रकृत में केवल यही समझलेना पर्य्याप्त होगा कि वस्तुस्वरूप की उत्पत्ति यज्ञात्मिका विष्णुमाया नाम की योगमाया से होती है। वस्तुस्वरूप की उच्छित्ति संहारात्मिका शिवमाया नाम की योगमाया से होती है। एवं वस्तुस्वरूपरक्षा त्रिगुणभावमयी दैवीमाया नाम की योगमाया से होती है। एक उत्पादिका है, एक विनाशिका है, एक रक्षिका है। दैवीमाया सृष्टिका मूलाधार है। विष्णुमाया सृष्टि का जीवन है। शिवमाया सृष्टि का विनाश है। इसीलिए शिव को मुक्तिदाता कहा जाता है। इनमें गुणमयी माया के **शुक्ल-रक्त-कृष्ण** ये तीन विवर्त्त हैं। सत्त्वप्रधाना दैवीमाया शुक्ल है। इससे अव्ययेश्वर का विकास होता है। रजःप्रधाना दैवीमाया रक्त है। इससे अक्षरपुरुष का विकास होता है। तमःप्रधाना दैवीमाया कृष्ण है। इससे क्षरपुरुष का विकास होता है। इसी त्रैगुण्यभाव से विश्व आक्रान्त है। जब तक त्रैगुण्य है, तब तक योगमाया का साम्राज्य है। जब तक माया का साम्राज्य है, तब तक सदसद्द्वन्द्व है। जब तक सदसद्द्वन्द्व है, तब तक शोक है। इसलिए शोकनिवृत्ति का एकमात्र उपाय है–द्वन्द्वप्रवर्तिका माया का तरण, जैसाकि–**"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"** इत्यादि रूप से भगवान् स्वयं स्पष्ट करने वाले हैं।

यज्ञात्मिका विष्णुमाया को हमने विश्व की जननी बतलाया है। यही यज्ञ आगे जाकर संवत्सर रूप कालचक्र में परिणत होता है। इसी संवत्सर का नाम "भूतानां पतिः" है। इससे पृथ्वी की उख्याग्नि में कुमार का जन्म होता है। यही कुमाराग्नि आगे जाकर चित्राग्नि रूप में परिणत होता है। यही चित्राग्नि सर्वान्त में पाशुकाग्नि रूप में परिणत होता है। इसी पाशुकाग्नि के आगे जाकर वैश्वानर-तैजस प्राज्ञ-ये तीन रूप हो जाते हैं। इन तीनों की समष्टि ही विज्ञानशास्त्र में **भूतात्मा** नाम से प्रसिद्ध है। केवल द्वन्द्वभाव की क्रमिकवृद्धि से परमात्मा ही भूतात्मारूप में परिणत हो गया है। इस परिणति के उच्छेद के लिए तत्त्वज्ञान अपेक्षित है। तत्त्वज्ञान से जिस दिन मायाबंधन टूट जायगा, परमात्मभाव प्राप्ति हो जायगी। द्वन्द्व उच्छिन्न हो जायगा। स्वाभाविक शोक को आक्रमण करने का अवसर ही न मिलेगा। बस इसी सारे गुहानिहित रहस्य को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥[1]

॥ इति ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषदि तृतीयोपदेशः (क) ॥

१ गीता २।१६।

३–(ख)—

ख–३–तस्मादस्य विकुर्वाणविनश्वरशरीरयोगिनोऽप्यात्मनो निर्विकारत्वादविनाशित्वाच्चानुशोकानौचित्यम् ।*

१–अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति ।। (गीता २।१७)

२–अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।। (गीता २।१८)

३–य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।। (गीता २।१९)

[मूलानुवाद]– "हे अर्जुन ! जिस (अव्यय) से यह सम्पूर्ण विश्व वितत हुआ है, उसे तू अविनाशी समझ । इस अव्यय का कोई भी विनाश नहीं कर सकता । अविनाशी, प्रमारहित (अविज्ञेय), एवं नित्य शरीरी (आत्मा) के ये देह (शरीर) नाशवान हैं । इसलिए हे भारत ! तू युद्ध कर । जो (मूढ-अविवेकी) इस आत्मा को मारने वाला समझता है, जो इसे मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही इसे (आत्मा को) नहीं पहचानते । न यह किसी को मारता है, न किसी से मारा जाता है ।"

[भाष्य]– मूलद्वन्द्व के उच्छेद के बिना शोक की आत्यन्तिक निवृत्ति असंभव है । इस द्वन्द्व का उच्छेद एकमात्र तत्त्वज्ञान पर अवलम्बित है । इस तत्त्वसम्बन्धी विज्ञानसिद्धान्त का ही **"नासतो विद्यते भावो"** इत्यादि रूप से पूर्व प्रकरण में निरूपण किया गया । जब हम तत्त्वदृष्टि से **सत्आत्मा और असत् शरीर** का विवेक समझ लेते हैं, दूसरे शब्दों में **रस-बल** का विवेक कर लेते हैं तो हमें मान लेना पड़ता

---

*चूंकि सत् आत्मा का कभी विनाश नहीं हो सकता एवं असत् शरीर कभी नित्य नहीं हो सकता, इसलिए सर्वथा परिवर्तनशील, अतएव विनश्वर शरीर के साथ नित्य युक्त रहने वाले आत्मा के सर्वथा निर्विकार एवं अविनाशी रहने से तुझे अनुशोक नहीं करना चाहिए । तात्पर्य्य यह हुआ कि आत्मा और शरीर यद्यपि नित्यसम्बद्ध हैं । तथापि आत्मा कभी नष्ट होता नहीं, शरीर कभी रहता नहीं, इसलिए शरीरनाशप्रयुक्त अनुशोक व्यर्थ है ।

है कि आत्मा (रसरूप से) सर्वथा अविनाशी ही है, शरीर (बलरूप से) सदा विनाशी है। आत्मा कभी मरेगा नहीं, क्योंकि वह सत्प्रधान (रसप्रधान) है, शरीर कभी बचेगा नहीं, क्योंकि यह असत्प्रधान (बलप्रधान) है। फिर शोक किस का? गुरु-पितामह-बन्धु बान्धवों का अर्जुन को शोक हो रहा है। शोक नहीं हो रहा अनुशोक हो रहा है। शोक और अनुशोक भिन्न भिन्न अर्थों के वाचक हैं। प्राकृतिक ताप शोक है, कृत्रिम सन्ताप अनुशोक है। ताप सकारण होता है, संताप अकारण किंवा आगतकारण के भय से होता है। रोग हुआ, अथवा किसी बन्धु का वियोग हुआ, इससे शरीराग्नि पर आघात होता है। अग्नि क्षुब्ध हो पड़ता है। इस अग्निक्षोभ ही का नाम **"शुक्"** है। तन्मय अग्नि ही **"शोक"** है। अग्नि ही **"शोचति"**। इसी "शुक्" के सम्बन्ध से अग्नि को शुक्र कहा जाता है। यही शुक्राग्नि (तप्तअग्नि) चरम सीमा पर पहुँचता हुआ—**"अग्नेराप:"** इस सिद्धान्त के अनुसार पानी बन जाता है। अग्नि की इस द्रुत अवस्था को ही **शोकाश्रु** कहा जाता है। यही अवस्था अनुशोक में होती है। अर्जुन का अग्नि सीमा का अतिक्रमण कर गया था। फलस्वरूप शोकाग्नि अश्रुरूप में परिणत हो गया था, जैसा कि—**"तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्"** इत्यादि रूप से स्पष्ट है। हाँ तो कहना यह था कि शोक सकारण होता है। कभी-कभी खयाली शोक का भी उदय हो जाता है। यही कृत्रिम शोक है। यह शोक का पिछलग्गू है। इसीलिए भगवान् ने-**"नानुशोचितुमर्हसि"** इत्यादिरूप से अनुशोक शब्द से व्यवहृत किया है। अभी शोक का कोई कारण नहीं है। अर्जुन के सभी बन्धु बान्धव जीवित हैं। फिर भी भावी परिणाम की आंशका से शोक हो रहा है। यह एक अनुभूत विषय है कि-वर्त्तमानकारणजनित शोक की अपेक्षा आगन्तुककारणजनित शोक अधिक भयङ्कर होता है। "अमुक बन्धु का वियोग हो गया"-यह सुनने से, एवं "अमुक बन्धु का-**वियोग हो जायगा**" इस आंशका से जो शोक होता है—उसमें बडा अन्तर है। पहले में नैराश्य है, दूसरे में आशा है। आशासम्बन्ध से यह दूसरा शोक प्रबल रहता है, इसीलिए इसे संताप कहा जाता है। अर्जुन में इसी का उदय हो रहा है। जैसाकि पूर्वप्रदर्शित अर्जुनदशाचित्रण से स्पष्ट है। भगवान् कहते हैं-अर्जुन! इस अनुशोक का क्या कारण? अर्जुन कहता है भगवन्! बन्धु वियोग? भगवान् कहते हैं-अर्जुन! पुरोऽवस्थित द्रोणादि के वियोग से तुझे शोक हो रहा है। ठीक है। भला बतलातो सही, शोक का कारण इनके शरीर का वियोग है, अथवा आत्मवियोग। तू कहेगा आत्मवियोग, हम उत्तर देंगे—सत् लक्षण आत्मा व्यापक है। वह एक रूप से सर्वत्र व्याप्त है। एक तात्त्विक कभी उसके वियोग की कल्पना नहीं कर सकता। तू कहेगा, इनका शरीर नष्ट हो जायगा, हम कहेंगे यह किसी दिन नष्ट होगा ही। तू प्रयास करने पर भी शरीर की रक्षा न कर सकेगा। इस प्रकार दोनों के लिए ही शोक करना व्यर्थ है। कदाचित् तू यह कहे कि—पूर्वोक्त तत्त्वविज्ञान के अनुसार मैं यह भी मानलेता हूँ कि सत् आत्मा कभी मरेगा नहीं, असत् शरीर कभी सत् बनेगा नहीं। फिर भी इन दोनों का जो ग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध है, दूसरे शब्दों में आत्मा और शरीर का जो सम्बन्ध है, इन्हें मारने से वह बंधन तो पृथक् हो जायगा। फलतः बन्धनोच्छेदप्रयुक्त वियोगजनित शोक तो होगा ही। साथ ही में न यह शरीर रहेगा, न इस शरीर से युक्त आत्मा रहेगा।

पाठकों को प्रकृत उपनिषद् के सम्बन्ध में **परमात्मा-भूतात्मा** इन दो भावों को सर्वत्र सब उपदेशों में लक्ष्य में रखना चाहिए। अर्जुन भूतात्मा पर दृष्टि रखता हुआ प्रश्न करता है, भगवान् परमात्मा पर

दृष्टि रखते हुए उत्तर देते हैं। भगवान् बार-बार अर्जुन का परमात्मा की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए उसका शोक हटाना चाहते हैं, अर्जुन स्वभावसिद्ध अभ्यासवश भूतात्मा की ओर आकर्षित होता हुआ शोक भाव प्रकट कर रहा है। पूर्व के तत्त्वोपदेश से अर्जुन यह समझा कि आत्मा सर्वथा सत् है, शरीर सर्वथा असत् है। भगवान् का यह अभिप्राय न था। भगवान् बतलाना यह चाहते थे कि सत्-और असत् नाम के दो तत्त्व हैं अवश्य, परन्तु ये दोनों दो होकर भी पृथक्-पृथक् कभी नहीं रहते। दोनों अविनाभूत हैं। वस्तुतः इन्हे दो मानना भी अशुद्ध है। द्वित्वव्यवहार सत्ताभेदमूलक है। दो सत्ता होने पर ही द्वित्त्व व्यवहार होता है। यदि सत्ता के एक रहते हुए भातियाँ अनेक भी हो जाती हैं, तब भी वह वस्तु एक ही कहलाती है। रस सत्तारूप होने से सत् है, बल भातिरूप होने से असत् है। रस की सत्ता से असद्बल सत्तायुक्त बन रहा है। सद्वत् प्रतीत हो रहा है। सत्ता एक है, भाति अनेक है। रस एक है, बल अनेक हैं। दोनों का एकत्र समन्वय है। तभी तो प्रत्येक पदार्थ में–पूर्वकथनानुसार सामान्य-विशेष दोनों भाव उपलब्ध होते हैं। जो सामान्य है, वही विशेष है। जो विशेष है, वही सामान्य है, यह "**वही**" (स एवायं) रूपा प्रत्यभिज्ञा रसमूला है। सामान्य पृथक् है, विशेष पृथक् है, विशेष विशेष में ही रहता है, सामान्य सब विशेषों में रहता है, यह पृथक्त्वभाव बलमूलक है। यदि बलदृष्टि से आप पदार्थ को देखेंगे तो विशेष भावों के दर्शन होंगे। रसदृष्टि से सामान्यभाव के दर्शन होंगे। इस प्रकार जब सद्रस-असद्वल का ऐक्य सिद्ध हो जाता है तो फिर "**यह आत्मा है, यह शरीर है**" इस द्वैत का अवसर ही नहीं आता। भेदमूलक द्वन्द्व को प्रवेश करने का अवसर तब मिलता है, जब कि हम शरीर की पृथक् सत्ता मान बैठते हैं, एवं आत्मा की पृथक् सत्ता मान बैठते हैं। एवं तभी–शरीर नष्ट हो जायगा, आत्मा और शरीर का वियोग हो जायगा–ऐसे शोकमूलक विचार उत्पन्न होने का अवसर मिलता है। जब हम सत्-असत् का तात्त्विकस्वरूप समझ लेते हैं तो हमें यह मान लेना पड़ता है कि विश्वाध्यक्ष अव्ययेश्वर भी रसबलात्मक ही है, एवं विश्व भी रसबलात्मक ही है। संचर काल में वही अव्यय विश्व बना हुआ है, प्रतिसंचर काल में वही विश्व–"**परे ऽव्यये सर्वएकीभवन्ति**" इस सिद्धान्त के अनुसार अव्ययरूप में परिणत हो जाता है। आत्मा और विश्व यह भेदव्यवहार भी सच्चा है। आत्मा ही विश्व है, विश्व ही आत्मा है, यह अभेदव्यवहार भी सच्चा है। बलगर्भित रस आत्मा है, रसगर्भित बल विश्व है। रस बल की इस प्रधानता-अप्रधानता से भेदव्यवहार जहाँ न्यायसंगत है, वहाँ रसबल ही आत्मा है, रसबल ही विश्व है, इस रसबल की सामान्यव्याप्ति के अनुसार अभेदव्यवहार भी सुसंगत है। सर्वत्र बलभावना रखना क्षोभ का कारण है, सर्वत्र केवल रसभावना भी पराशान्ति का कारण नहीं बनती। शान्ति का कारण है–अव्ययभावना। अव्यय में–"**सदसच्चाहमर्जुन**" के अनुसार रसबल दोनों हैं। दोनों ही तत्त्व शाश्वत हैं। परन्तु दोनों के स्वरूप में अन्तर है। रस नाम का शाश्वत तत्व सदा एकरस ही रहता है, बल नाम का शाश्वत तत्व सदा बदलता ही रहता है। इस बदलाव के कारण व्यावहारिक लोग थोड़ी देर के लिए भले ही बल को अशाश्वत मानलें, परन्तु बल का यह बदलाव भी शाश्वत है। स्वयं बल भी बलत्त्वेन शाश्वत है। यह तो पदार्थ का स्वभावमात्र है। प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहना तो बल का एक स्वभाव है। "**बल अभावरूप है, इसलिए इसे असत् कहा गया है**" यदि कोई अतात्त्विक असत् का यह अर्थ समझता है तो वह भूलता है। असत् का तात्पर्य्य है–स्वतन्त्रसत्ता का अभाव। बल प्रतिक्षण परिवर्तित

होने से स्वयं सत्तारूप नहीं है, असत् का केवल यही तात्पर्य है। असत् का कभी (क्षणमात्र भी) भाव (सत्ता) नहीं देखा गया, सत् का कभी अभाव (सत्ताभाव) नहीं देखा गया" इससे भी बल की स्वतन्त्र सत्ता का ही उच्छेद बतलाया गया है। असत् यदि अभाव का वाचक हो तो कभी भी वह तत्त्व माना नहीं जाय। भला जो कुछ नहीं है–वह तत्त्व कैसे होगा? सच पूछिए तो वह कुछ नहीं ही एक तत्व है। बल नास्तिसार है। अपने क्षणिक परिवर्तन के कारण ही वह **नास्तिसार** बना हुआ है। इस तत्त्व का यही स्वरूप है। कुछ नहीं मुख से बोलदेना और बात है, इस कुछ नहीं का वास्तविक अर्थ समझना दूसरी बात है।

भूतात्मवादी अर्जुन को जब सत्-असत् का स्वरूप समझाया गया तो वह यह समझा कि आत्मा पृथक् है, शरीर पृथक् है। भगवान् दो तत्व बतला रहे हैं। संभव है–अर्जुन ऐसा न समझा हो। परन्तु सर्वसाधारण अवश्य ही उक्त तत्वविवेक का वास्तविक मर्म्म न समझते हुए द्वैत का भ्रम कर सकते हैं। उसका समूल विनाश करने के लिए ही भगवान् ने सदसद्द्वन्द्वप्रकरण में ही इस नवीन प्रकरण का समावेश किया है।

"जिस अव्ययात्मा ने इस विश्व का वितान किया है, उसे तू अविनाशी समझ। भला अव्यय का भी किसी ने विनाश किया है" इन अक्षरों से भगवान् क्या कहना चाहते हैं, विचार कीजिए। अव्ययात्मा का वितान ही विश्व है। श्रुति जिस अर्थ के लिए–**"बहुस्याम्"–"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्"** यह कहती है, ठीक उसी अर्थ में भगवान् ने–**"येन सर्वमिदंततम्"** यह कहा है। साथ ही में उस वितानकर्त्ता अव्यय को अविनाशी बतलाया है। उधर स्वयं भगवान् ने अहंशब्दवाच्य अव्यय को आगे जाकर सदसदात्मक कहा है। फलतः सत्-और असत् दोनों का अविनाशित्व सिद्ध हो जाता है। यह बात ठीक है कि विश्व भावप्रवर्त्तिका महामाया के गर्भ में निविष्ट जितने भी सदसद्द्वन्द्व हैं, वे सब सामान्य होते हुए भी महासामान्य की अपेक्षा विशेष बनते हुए मृत्युप्रधान ही हैं। परन्तु वह परमसामान्य सद्रस और परम विशेष असद् बल विश्वातीत बनते हुए, ग्रन्थिबंधनलक्षण नानात्वमूलक मृत्युभाव से पृथक् रहते हुए सर्वथा अविनाशी ही हैं। साथ ही में तात्त्विकदृष्टि से विचार करने पर आपको यह भी मान लेना पड़ेगा कि वह परमसामान्य एवं परमविशेषरूप विश्वातीत सत्-असत् दो नहीं, अपितु एक वस्तु है। जो अणोरणीयान् है, वही महतो महीयान् है। इसी परमभाव का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तो र्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥[1]

जो वस्तु व्यापक होती है, उसमें कोई केन्द्र नहीं होता, दूसरे शब्दों में व्यापक तत्व की प्रत्येक बिन्दु केन्द्र है। साथ ही में यह भी निश्चित सिद्धान्त है कि केन्द्र मूलप्रतिष्ठा है। इस प्रतिष्ठाभाव की आशङ्का नहीं होती। भय ही शोक का मूल कारण है, शोक ही दुःख का जनक है। हम देखते हैं कि

१ महानारा० उप० ८।३।

अपने हृदय पर प्रतिष्ठित होते हुए एक हाथ गहरे गढ्ढे को भी पार करते हुए भय का अनुभव नहीं करते। परन्तु असावधानी से यदि हमारा पैर दो इंच गहरे गढ्ढे में गिर जाता है तो सहसा आत्मा कम्पित हो जाता है। इस कम्पन ही का नाम तो भय है। इसका मूल कारण हृत्प्रतिष्ठा की विच्युति ही है। अपने ही स्थान में हृदय का हिल पड़ना कम्पन है। यही भय है। स्थान छोड़ देना मृत्यु है। इस प्रकार भय ही आगे जाकर मृत्युभाव का कारण बन जाता है। **"द्वितीयाद्वै भयं भवति"** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार भय का मूल कारण द्वैतभाव है। कम्पन तभी होता है, जब हृदय को इतस्ततः जाने के लिए प्रदेश मिल जाता है। मानलीजिए सर्वत्र हृदय ही हृदय है तो फिर कम्पन के लिए कौनसा प्रदेश बचेगा? फलतः भय का अवसर ही न आवेगा। ऐसा भाव केवल असीम परात्पर ही है। उसका सभी प्रदेश केन्द्रमय है। उसे प्राप्त हो जाने पर सीमामूलक द्वैत टूट जाता है। पतन के लिए प्रदेश ही नहीं रहता। इसीलिए-**"अभयं वै ब्रह्म"** इत्यादिरूप से उस परम सामान्य एवं परमविशेषरूप सदसत् **ब्रह्म** को **"अभय"** नाम से सम्बोधित किया जाता है। यही मौलिक तत्त्व है। जब इसका तात्त्विक उदय हो जाता है तो विश्व के द्वैतमूलक द्वन्द्वभाव कभी कम्प पैदा नहीं कर सकते। हम ज्ञान द्वारा यह विश्वास कर लेते हैं कि सम्पूर्ण विश्व उसी अभय ब्रह्म का तनाव है। वही आत्मा है, वही विश्व है। फिर कम्प कैसा? **"मया ततमिदं सर्वम्"** के अनुसार सदसदात्मक वही अविनाशी अव्यय बलग्रन्थितारतम्य से शरीर बना है, वही भूतात्मा बना है। ग्रन्थिविमोक को ही **"नाश"** कहा जाता है। यह ग्रन्थिविमोक लक्षण नाश अवश्य ही होता है। परन्तु असद्बल कभी नष्ट हो जायगा, अथवा सद्रस कभी विलीन हो जायगा ऐसा आत्यन्तिक तत्त्वनाश कभी संभव नहीं हैं। इसी नाश को **"विनाश"** कहा जाता है। विशेष नाश, किंवा आत्यन्तिक नाश ही विनाश है। ग्रन्थिबन्धन का आत्यन्तिकनाशलक्षण विनाश सम्भव है, परन्तु सहचरबंधनयुक्त रसबलमूर्त्ति अव्यय का विनाश असंभव है। तभी तो इसे **अव्यय** कहा जाता है। तत्त्वात्मना सदा सर्वत्र सम रहना ही तो अव्यय का अव्ययत्व है, जैसाकि अभियुक्त कहते हैं—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥[1]

अर्जुन! जिसे तू नाश कहता है, वह तो अवस्था परिवर्त्तनमात्र है। आज बल इस शरीरदशा में परिणत हो रहा है, कल दूसरी अवस्था में परिणत रहेगा। घट फूटगया, मिट्टी है। मिट्टी की ग्रन्थि टूट गई पानी है। पानी की ग्रन्थि टूट गई अग्नि है, अग्नि नहीं तो वायु है, वायु नहीं तो आकाश है। आकाश नहीं तो आत्मा है। वही आत्मा ग्रन्थिद्वारा आकाश-वायु-अग्नि-जल-मिट्टी-शरीर बन रहा है। वही तो सर्वत्र वितत है। क्या इस अवस्थापरिवर्तन को एक तात्विक विनाश कहा जायगा? कभी नहीं। मूलतत्त्व पहले वैसा ही था, आज भी वैसा ही है, भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा। इसलिए असत्शरीर के नाश से यदि भी तू शोक करता है तो तेरा शोक व्यर्थ है। कारण जो भूतात्मा अव्यय की विभूति है, शरीर भी उसीका वैभव है। सभी तो नित्य हैं। फिर शोक किस बातका?[2]

---

१ सिद्धान्तकौमुदी अव्यय प्रणकरण।
२ गीता २।१७।

इस प्रकार सदसत् तत्त्व का अविनाशीस्वरूप समझाते हुए भगवान् ने आत्मवत् शरीर की भी शाश्वतता प्रकट की। संभव है, अर्जुन इसका यह अर्थ समझ बैठे कि इस प्रकार शरीरवत् आत्मा भी परिवर्तनशील है। अर्थात् असद्बलवत् सद्रस भी यों ही परिवर्तित होता रहता है–इसका विरोध करने के लिए भगवान् को "**अन्तवन्त इमे देहाः**"[1] यह कहना पड़ा। इसके द्वारा भगवान् सत्-असत् का स्वरूप धर्म्म ही बतला रहे हैं। यह ठीक है कि सत्-असत् दोनों ही शाश्वत हैं। परन्तु इन दोनों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि सत्रस कभी परिवर्तित नहीं होता। यह स्वस्वरूप से व्यापक है। उधर असद्बल कभी स्थिर नहीं रहता। यही कारण है कि सद्रसप्रधान आत्मा अनाशी है, अप्रमेय है, नित्य है। असद्बलप्रधान शरीर साद्यन्त है। विशुद्ध रस और विशुद्ध बल अप्रमेय हैं। रसगर्भित बलरूप शरीर प्रमेय एवं विनाशी है। जब तू यह जानता है कि रसप्रधान आत्मा का कभी अभाव न होगा एवं बलप्रधान शरीर कभी एक रस रहेगा नहीं तो फिर शरीर मोह में पड़कर कर्त्तव्यकर्म्म से विमुख होना कायरता है। अरे! बल का स्वभाव है–कर्म्मरूप में परिणत रहना। भला इस सहजसिद्ध कर्म्ममार्ग का परित्याग कर बैठना कौनसी बुद्धिमानी है? "**तस्माद् युध्यस्व भारत!**"[1]

अन्त में भगवान् उसी सदसत् तत्त्व की नित्यता की ओर अर्जुन का ध्यान आकर्षित करते हुए कहते हैं कि सत्-असत् का मौलिक स्वरूप न जानते हुए जो मनुष्य यह समझते हैं कि "**आज हमने अमुक को मार डाला, आज वह मर गया**" वे दोनों ही आत्मा के उस परमार्थ असीम रूप को नहीं जानते। जरा अवधानपूर्वक प्रकृत श्लोकार्थ[2] की ओर दृष्टिपात कीजिए। "हन्तारं" से आत्मरूप **रस** पर दृष्टि है। **हतम्** से शरीररूप **बल** पर दृष्टि है। तात्त्विक दृष्टि से मृत्यु एवं जीवन का विचार करने पर हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि जब तक रस के साथ बल का सम्बन्ध रहे, तब तो जीवन है, एवं बल का रस से पृथक् हो जाना ही मृत्यु है। क्या यह संभव है? क्या बल का रस से योग-वियोग संभव है? "भूतात्मवादी कहता है–हाँ। प्रत्यक्ष ही में तो हम देखते हैं कि एक व्यक्ति दूसरे पर बाण चलाता है। हन्ता के इस व्यापार से पुरोऽवस्थित व्यक्ति का बलरूप शरीर रसरूप आत्मा से पृथक् हो जाता है। यही हन्ता द्वारा उसका हनन है। भूतात्मवादी अर्जुन सत्-असत् का अभी पूर्वोक्त तात्पर्य्य समझे बैठा होगा। उसने तत्त्वविवेक का यह अर्थ समझा होगा कि आत्मा विशुद्ध रसमूर्ति है, शरीर विशुद्ध बलमूर्त्ति है। बलात्मक शरीरयुक्त मैं (अर्जुन) यदि पुरोऽवस्थित बन्धु बान्धवों पर बाण चलाऊंगा तो उनका रसरूप आत्मा उनके बलरूपशरीर से पृथक् हो जायगा। फलतः ये रस कहलावेंगे, मैं हन्ता (घातक) कहलाऊंगा। अर्जुन नहीं चाहता था कि वह जगत् में "**घातक**" कहलावे एवं इसके द्वारा यह प्रसिद्ध हो कि अमुक ने अपने बन्धु बान्धवों को मार डाला। सचमुच अभी अर्जुन ने सत्-असत् का स्वरूप नहीं समझा। यदि बल का रस के साथ कभी योग, कभी वियोग होता रहता, तब तो अर्जुन की यह समझ ठीक थी। कारण, उस अवस्था में अर्जुन का आत्मा अवश्य ही पुरोऽवस्थित व्यक्तियों के रस-बल के वियोग का कारण बनता हुआ हन्ता कहलाता, एवं वे हत कहलाते। परन्तु यहां तो बात ही दूसरी है। रस का बल के साथ नित्य सम्बन्ध है। ऐसा **कभी** संभव नहीं है, जब कि कभी बल रस को छोड़ दे,

---

१ गीता २।१८।

२ गीता २।१९।

अथवा रस बल से पृथक् रहे। "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः" "**अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृत-माहितम्**" इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट ही अमृत-मृत्युलक्षण सत्-असत् का नित्य सम्बन्ध मान रही हैं। हाँ, विश्वदृष्टि से अर्जुन की समझ ठीक है एवं उसी विश्वानुगत ग्रन्थिबंधनयुक्त रस-बल के योग-वियोग से युक्त भूतात्मा की अपेक्षा से—"**मारता है, यह मरता है**" यह व्यवहार उपपन्न है। परन्तु उस विश्वातीत दृष्टि से इस समझ का कोई मूल्य नहीं है। सहचरसम्बन्धावाच्छिन्न रस-बल भी नित्य हैं, इन का सम्बन्ध भी नित्य है। ऐसी दशा में (परमार्थदृष्टि के अनुसार) जो यह समझता है कि मैं हन्ता हूँ, रसबल का वियोग कराने वाला हूँ, वह हत है, उसका रसरूप आत्मा बलरूपशरीर से अलग हो गया, इस तरह जो यह समझता है—वह मूढधी है। अभी उसकी दृष्टि योगज भूतात्मा पर है। अभी उसने मौलिक सत्-असत् का यथार्थस्वरूप नहीं पहिचाना है। अपि च-कर्म्म का उदय बल से होता है। बल से उदित कर्म्म का आघात प्रत्याघात भी बल पर ही होता है। बलों का बलों के साथ आघात-प्रत्याघात होते रहना प्रकृतिसिद्ध नियम है। उधर रस प्रत्येकदशा में आघात-प्रत्याघातशून्य है। अहं प्रत्ययरसप्रधान है, त्वं-भाव बलप्रधान है। रसप्रधान अहंभाव कभी बलप्रधान त्वं-भाव पर आघात-प्रत्याघात नहीं कर सकता। रसरूपज्ञान सर्वथा निष्क्रिय है, बलरूपशरीर सर्वथा सक्रिय है। निष्क्रिय अहं-भाव सक्रिय को मारे—यह कब संभव है। रस बल पर आक्रमण करे—यह कब संभव है। "मैं मारता हूँ"—"मुझ से वह मर गया" दोनों ही बातें अशुद्ध हैं। न मैं मारता—न वह मरता। मेरे बल ने उसके बल पर आघात किया, दोनों में जिसका बल प्रबल हुआ, उसने अन्य निर्बल बल को परिवर्त्तित कर दिया। बतलाओ किसने—मारा, कौन मरा? प्रकृतिसिद्ध बलों के इस ग्रन्थिबन्ध-ग्रन्थिविमोक का कर्तृत्व-कार्यत्व अपने ऊपर ले लेना कौन सी तत्त्वदृष्टि है?

अपिच—कितने ही तत्त्वदर्शियों के (सांख्यनिष्ठों के) मतानुसार आत्मा तो विशुद्ध रसरूप (ज्ञानमय) है एवं शरीर विशुद्ध बलरूप (कर्म्ममय) है। दोनों ही बातें गलत हैं। आत्मा भी रसबलमय है, शरीर भी रसबलमय है। दोनों में रस सामान्य है, बल विशेष है। विशेष बलों में योगवियोग हुआ करता है। रस एक रस है। न वह मारता, न मरता। बल भी न मारता न मरता। स्वाभाविक ग्रन्थिबंधन को जीवन कह दिया जाता है, ग्रन्थिविमोक को मृत्यु कह दिया जाता है। बतलाइए किसने मारा और कौन मरा? इस रहस्य को कौन जानेगा—"**बुद्धियोगी**"। हमारे अन्तर्जगत् में सदसद् की पहचान करने वाले दो तन्त्रायी हैं। एक तन्त्रायी **प्रज्ञानात्मा** (मन) नाम से प्रसिद्ध है, दूसरा **विज्ञानात्मा** (बुद्धि) नाम से व्यवहृत होता है। इन्द्रियजनितज्ञान का अधिष्ठाता मन है। इसी मानसज्ञान को सामान्यज्ञान कहा जाता है। इसीके लिए—"**जानाति-जानन्**" इत्यादि प्रयोग होते हैं। इस जानाति किंवा जानन् का व्यावहारिक लौकिक ज्ञान से सम्बन्ध है। इस ज्ञान से भूतात्मा का उपकार होता है। यही मानसज्ञान द्वन्द्वभाव का प्रवर्त्तक है। विजानाति–किंवा विजानन् का पारमार्थिक आत्मज्ञान से सम्बन्ध है। इस विशेष ज्ञान से परमात्मतत्त्व के दर्शन होते हैं, जैसाकि—"**तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः**" इत्यादिरूप से स्पष्ट है। भगवान् कहते हैं कि मानसज्ञानानुयायी भूतात्मवादी लौकिक मनुष्य ही हन्ता-हतरूप द्वैतभाव का समर्थन करते हैं। परन्तु जो विज्ञानघन बुद्धियोग के अनुष्ठाता हैं, वे विजानन्भाव के कारण कभी उक्त द्वैत का समर्थन नहीं करते। बस, इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर—"**विजानीतः**" पद प्रयुक्त हुआ है।

प्रकारान्तर से श्लोकार्थ का समर्थन कीजिए । जो मनुष्य आत्मा को हन्ता एवं हत समझता है, वह भूल करता है । कारण, आत्मा रस बल की समष्टि है । रसात्मना भी वह कभी हन्ता नहीं है, कभी हत नहीं है एवं बलात्मना भी वह हन्ता एवं हत नहीं है । कारण मूल-अव्यय के दोनों ही पर्व नित्य हैं । न यह मारता है, न मरता है । बलपरिवर्तन से मारने की, बलपरिवर्तन से मरने की भ्रान्तिमात्र है । अथवा जो मनुष्यशरीर को हन्ता एवं शरीर को हत समझता है, वह भी भूल करता है । कारण, रसगर्भित बलप्रधान शरीर के रसबल भी शाश्वत हैं । नित्य तत्त्व में न हनन रूप अशाश्वत भाव का सम्बन्ध है, न विनष्टिरूप मृत्युभाव का सम्बन्ध है । न शरीर मारता, न शरीर मरता । सच तो यह है कि रस-बल का तात्त्विक विवेक कर लेने के पश्चात् जन्म-मृत्यु-वध्य-वधिक आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वभाव उच्छिन्न हो जाते हैं । इस प्रकार भगवान् ने इन प्रकृत श्लोकों से पूर्वश्लोक में प्रतिपादित सत्-असत् तत्त्वों का स्पष्टीकरण करते हुए अर्जुन को बलसिद्ध अतएव सहजसिद्ध युद्धकर्म्म का आदेश दिया दिया है ।

।। इति ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषदि तृतीयोपदेशः (ख) ।।

३

चतुर्थोपदेशः

४–(क)–अपि चैतस्य विनश्वरशरीरयोगिनोऽप्यव्ययस्य जन्म-मृत्यु-द्वन्द्वरहितत्वेन हननासम्भवादनुशोकानौचित्यम् ।*

१–न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। (गीता २।२०)

२–वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ ! कं घातयति हन्ति कम् ।। (गीता २।२१)

[मूलानुवाद]—"वह (अव्ययात्मा) न उत्पन्न होता, न कभी मरता । साथ ही में ऐसा भी नहीं कि वह (प्रकट) होकर फिर (प्रकट) न होगा । यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है । शरीर मार डालने पर यह नहीं मरता । जो (अव्ययवेत्ता) पुरुष इसको अव्यय, अज, अविनाशी, नित्य समझ लेता है, हे पार्थ ! वह (आत्मवेत्ता) पुरुष कैसे किस को मरवाता है, एवं किसको मारता है ?"

[भाष्य] जब भगवान् ने यह कहा कि न तो वह हन्ता (मारनेवाला) है, न हत (मरनेवाला) है, तो अर्जुन को कि फिर यह सन्देह हुआ कि–"संयोगा विप्रयोगान्ताः" इस प्रकृतिसिद्ध नियम के अनुसार जब हम देखते हैं कि एक आत्मा माता के शोणित एवं पिता के शुक्र में प्रतिष्ठित होकर जन्म लेता है, तो कालान्तर में उसका वियोग निश्चित है । आत्मा ने द्वन्द्वभाव से योग किया है तो उसका कभी न कभी वियोग अवश्य होगा । द्वन्द्वभाव के साथ आत्मा का युक्त होना ही इसका जन्म कहलाता है, एवं द्वन्द्वभाव से पृथक् होकर लिङ्गशरीर रूप अन्यद्वन्द्व से युक्त हो जाना ही इसकी मृत्यु कहलाती है । आप कहते हैं–वह द्वन्द्वभाव से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, इसलिए न वह हन्ता है, न हत है । मैं प्रत्यक्ष में देख रहा हूँ कि आत्मा द्वन्द्वभावयोगलक्षण जन्म, वियोगलक्षण मृत्यु का अधिष्ठाता बनता हुआ मृत्यु–दोनों से युक्त

---

*–सर्वथा विनाशशाली शरीर से युक्त अव्यय पुरुष जन्म-मृत्यु रूप सदसद्द्वन्द्व से सर्वथा रहित है । ऐसी अवस्था में जन्म-मृत्युरहित अव्यय का नाश सर्वथा असंभव है । जब अव्ययात्मा का कभी नाश संभव नहीं है तो फिर नाशजनित तेरा अनुशोक सर्वथा अनुचित है । तुझे आत्मनित्यता को सामने रखते हुए अनुशोक का परित्याग कर देना चाहिए ।

होता हुआ अवश्य ही हन्ता एवं हतकोटि में प्रविष्ट है। अर्जुन का कथन सत्य है, परन्तु द्वन्द्वभावापन्न-भूतात्मा की दृष्टि से। भूतात्मा ही औपपातिक आत्मा कहलाता है। वही जन्म लेता है, वही मरता है। भगवान् भूतात्मवादी अर्जुन को यह बतलाना चाहते हैं कि परमात्मलक्षण अव्यय कभी जन्म नहीं लेता। फलतः उसकी मृत्यु भी संभव नहीं है।

तात्पर्य्य यह है कि एक ही आत्मा के उपाधिभेद से **अव्यय, अक्षर, क्षर**–ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं, जैसाकि पूर्व प्रकरण में बतलाया जा चुका है। इन तीनों में अव्यय, ईश्वर-संस्था का, अक्षर, जीव-संस्था का एवं क्षर, विश्व एवं शरीर-संस्था का अधिष्ठाता है। जन्ममरणप्रकृतिलक्षण भूतात्मा का जन्म अवश्य संभव है। परन्तु व्यापक अव्यय का जन्म सर्वथा असंभव है। भूतात्मा एक स्वतन्त्र संस्था है। इसी को भोक्तात्मा किंवा कर्म्मात्मा कहा जाता है। यही भोक्ता सुपर्ण है। उधर व्यापक अव्यय का जैसे और और जीवों के साथ सम्बन्ध है, एवमेव इस युद्ध में उपस्थित योद्धाओं के साथ भी सम्बन्ध है। सचमुच व्यापक अव्यय कभी जीव नहीं बनता। महामायायुक्त मायी अव्यय मायामय विश्व का एक आत्मा है। उसका सर्वत्र विभूतिसम्बन्ध है। जिस प्रकार एक रोदसी-त्रैलोक्य में सूर्य्य अपने प्रकाश से सर्वत्र व्याप्त है, उसका संवत्सर-चक्र में कहीं अभाव नहीं है; ठीक इसी तरह वह अव्यय सर्वत्र समानरूप से व्याप्त है। जब इससे कोई स्थान रिक्त नहीं तो फिर आगतिलक्षण जन्म एवं गतिलक्षण मृत्यु का वहाँ कैसे प्रवेश सम्भव हो सकता है? जिस समय औपपातिक भूतात्मा जन्म लेता है, उसके प्रदेश में उस समय भी व्यापक अव्यय प्रतिष्ठित है, जब भूतात्मा शरीर से निकल जाता है, तब भी वह उसी रूप से अन्य स्थानों की तरह उस स्थान पर भी प्रतिष्ठित है। ऐसी दशा में इसके सम्बन्ध में "**होकर फिर यह न होगा**" यह भी नहीं कहा जा सकता। इस जन्ममृत्युलक्षण द्वन्द्व से सर्वथा असंस्पृष्ट रहने के कारण ही तो इसे–"**अज**" कहा जाता है। अनित्यशरीर में यह सर्वथा नित्य है। शरीर बदलते ही रहेंगे, यह नित्यतत्त्व सदा एकरूप से वृक्षवत् स्तब्धवत् प्रतिष्ठित ही रहेगा। यही इसकी शाश्वतता है। भूतात्मा प्रतिशरीर में भिन्नभिन्न हैं, साथ ही जन्म-मृत्यु से युक्त होने के कारण पुराण-नूतन दोनों भावों से युक्त हैं। परन्तु यह व्यापक अव्यय तो विश्व में एवं भूतात्माओं में २ लाख वर्ष पहले, किंवा सृष्टि के आदि में जैसा जिस रूप से प्रतिष्ठित था, वैसा उसी रूप से आज भी यह प्रतिष्ठित है, एवं वैसा ही उसी रूप से भविष्य में भी वह प्रतिष्ठित रहेगा। यही इसकी पुराणता (पुरानापन) है। शरीर नष्ट होता है, भूतात्मा की गति-आगति होती है, परन्तु **ईश्वरमूर्त्ति व्यापकअव्यय** की न जन्म-मृत्यु होती, न शरीर नाश हो जाने पर, भूतात्मा की उत्क्रान्ति हो जाने पर यह उत्क्रान्त होता। जब इस व्यापक-अज-नित्य-शाश्वत-पुराण-जन्म-मृत्यु द्वन्द्वरहित ईश्वराव्ययलक्षण, सदसद्द्वन्द्वातीत अव्ययात्मा पर जब हमारी दृष्टि चली चाली जाती है, अर्थात् परिच्छिन्न अतएव अनित्य, अशाश्वत, नवीन, जन्म-मृत्युद्वन्द्वयुक्त, अतएव जीवसंज्ञक भूतात्मा जब सदसत्तत्त्वज्ञान के प्रभाव से अपने उस निरुपाधिक व्यापक को पहिचानता हुआ तद्रूप बन जाता है तो द्वन्द्वमूलक शोक का अवसर ही नहीं आता।

१. अजः—जन्म-मृत्युद्वन्द्वरहितः।

२. नित्यः—अनित्यशरीरे विभूतिसम्बन्धेन स्थितोऽपि तदनित्यधर्म्मेणासंपृष्टः

३. शाश्वतः—त्रिषुकालेषु, त्रिषुलिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु व्याप्तः ।
४. पुराणः—सृष्ट्चादौ-सृष्ट्यन्ते-मध्येच समानरूपेण, एकरूपेण व्याप्तः ।

प्रकारान्तर से (दार्शनिकदृष्टि से) विचार कीजिए। जन्म-मृत्युलक्षण प्रत्येक पदार्थ षड्भाव विकारों से नित्ययुक्त रहता है। ६ओं में से एक न एक भावविकार से पदार्थ अवश्य ही युक्त रहता है। वे ६ओं विकारभाव–"**जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यति**" इन नामों से प्रसिद्ध हैं—(देखिए नि० १।२।)।

पहले देवदत्त न था। आज यज्ञदत्त की माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ। यही "**जायते**" रूप पहला भावविकार है। जिस देवदत्त की त्रैलोक्य में सत्ता न थी, आज उसकी सत्ता हो गई। वह भी आया-आया कहलाने लगा, यही "**अस्ति**" लक्षण दूसरा भावविकार है। इस अस्ति का मूल जायते ही है। उत्पन्न होगा, तभी तो वह अस्तिभाव से व्यवहृत होगा। जन्मकारण से प्राप्तसत्ताक देवदत्त में परिवर्त्तन होने लगता है। पहले की हालत बदलने लगती है। यही विपरिणतिलक्षण तीसरा भावविकार है। परिवर्तन एक क्रिया है। क्रिया को स्वव्यापार के लिए एक निष्क्रिय धरातल अपेक्षित है। वह धरातल अस्तिभाव है। कोई वस्तु होगी, तभी तो उसमें परिवर्तन होगा। इसीलिए अस्तिमूलक इस परिणति भावविकार को हम तीसरा कहने के लिए तय्यार हैं। इस परिवर्तन का फल होता है–वृद्धि। प्रादेशमित देवदत्त आज ३॥ हाथ का हृष्टपुष्ट युवापुरुष बन गया। इस वृद्धि का कारण वही परिवर्तन है। इसीलिए वृद्धि को हम चौथा भावविकार मानते हैं। प्रत्येक वस्तु की वृद्धि ही उसके क्षय का कारण है। उन्नति ही अवनति का मूल है, संयोग ही वियोग का मूलप्रवर्त्तक है। इसीलिए चरम वृद्धि के अनन्तर क्रमशः देवदत्त का वृद्धिभाव क्षीण होने लगता है। यही पांचवा भावविकार है। क्षय ही नाश का उपक्रम है। आत्यन्तिक क्षय को ही नाश कहा जाता है। क्षय के कारण एक दिन देवदत्त नष्ट हो जाता है। फिर वही अव्यक्तभाव को प्राप्त है। यही नाशरूप ६ठा भावविकार है। जड़-चेतन सभी पदार्थ अवश्य ही यथा समय उक्त ६ओं भावकिारों से युक्त रहते हैं। इन विकारभावों की मूलप्रतिष्ठा अव्यय पुरुष नहीं, अपितु प्रकृति है, जैसा कि भगवान्–"**विकारांश्च गुणांश्चैते विद्धि प्रकृतिसम्भवान्**" इत्यादिरूप से आगे जाकर स्पष्ट करने वाले हैं। फलतः वैकारिक भाव प्रकृति पर आघात भले ही करें, परन्तु कार्य कारणातीत अव्यय-पुरुष के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। भगवान् ने–"**न जायते०**" इत्यादि से अव्यय को षड्भावविकारों से एकान्ततः अस्पृष्ट बतलाते हुए उसकी व्यापकता एवं शोकातिगता ही सिद्ध की है। "**न जायते**" इससे "**जायते**" लक्षण प्रथमभावविकार का, "**न म्रियते**" इससे–"**विनश्यति**" लक्षण ६ठे भावविकार का, "**भविता वा न भूयः**" इससे "**अस्ति**" लक्षण द्वितीयभावविकार का, "**नित्य**" से "**विपरिणमते**" लक्षण तृतीय भावविकार का, "**शाश्वतः**" से "**वर्द्धते**" लक्षण चौथे भावविकार का, एवं "**पुराणः**" से "**अपक्षीयते**" लक्षण पाँचवें भावविकार का निराकरण किया है। वह अजन्मा है, कभी उत्पन्न नहीं होता। फलतः जायते भाव से शून्य है। वह कभी मरता नहीं, कभी नष्ट होता नहीं, फलतः विनश्यति भाव से शून्य है। सापेक्ष अस्तिशब्द उसके लिए प्रयुक्त होता है, जो पहले नहीं होता है। "**घटोऽस्ति**" का तात्पर्य्य है–पूर्व घटो नासीत्–अधुना घटोऽस्ति वह अव्ययसापेक्ष अतएव भावविकाररूप

अस्तिभाव से शून्य है । वह पहले भी अस्ति रूप था, आज भी अस्तिरूप है, भविष्य में भी अस्तिरूप ही रहेगा । बस **"वह होकर न होगा"** इससे **अस्ति** भावविकार की निवृत्ति की गई है । परिवर्तन सावयव पदार्थ का धर्म्म है । इसी परिवर्तन के कारण वह पदार्थ अनित्य कहलाता है । अवयव निरवयव है, अतएव परिवर्तनरहित है । अतएव नित्य है । फलतः **विपरिणमते** से रहित है । जो वस्तु सावयव होती है, उसी का क्षय होता है । अव्यय अभिन्न सत्तारूप से सदा निरवयव होता हुआ शाश्वत है । फलतः अपक्षीयते से रहित है । इसी निरवयवभाव से पहिले आज भविष्य में सदा समानस्वरूप अव्यय वृद्धिभाव से रहित होता हुआ पुराण है । फलतः **"वर्द्धते"** का भी उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं–**"एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान् ।"** सचमुच षड्भावविकारों से सर्वथा असंस्पृष्ट यह अव्ययात्मा–**"अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्म्मा"** के अनुसार हन्यमान शरीर में कभी नष्ट नहीं होता । इस प्रकार भूतात्मवादी अर्जुन भूतात्मासम्बन्धी षड्भावविकारों को आगे रखता हुआ जहाँ अपने शोक को सकारण बतलाने की चेष्टा कर रहा है, वहाँ परमात्मवादी भगवान् अव्यय का स्वरूप उसके सामने रखते हुए उसके शोक की व्यर्थता सिद्ध कर रहे हैं ।

१–न जायते-इत्यतोऽजः—"जायते"–विरहितः
२–भविता वा न भूयः "अस्ति"–विरहितः
३–नित्यः —"विपरिणमते"–विरहितः
४–शाश्वतः —"वर्द्धते"–विरहितः
५–पुराणः —"अपक्षीयते"–विरहितः
६–न म्रियते —"विनश्यति"–विरहितः

(विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ।)

——०——

उक्त अर्थ का ही स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् आगे जाकर कहते हैं कि–हे अर्जुन ! जो विद्वान् उक्तलक्षण अज-अव्यय के इस अविनाशी भाव को समझलेता है, पुरुषतत्त्ववेत्ता वह पुरुष न किसी को मरवाता है, न किसी को मारता है । व्याख्याताओं ने श्लोक के पूर्वार्द्ध का–**"जो इस अविनाशी-नित्य-अज अव्यय को पहचान लेता है"** यह अर्थ किया है, परन्तु हम इससे सहमत नहीं हैं । कारण स्पष्ट है । पूर्व में भगवान् ने कहा है कि–"उसे तू अविनाशी समझ, जिससे सम्पूर्ण विश्व का वितान हुआ है"–(अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्) । **"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना"** **"मत्तःपरतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय"** **"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्"** इत्यादिरूप से भगवान् आगे जाकर स्वयं यह बतलाने वाले हैं कि अव्यय से ही अंशरूप से प्रकृति का विकास हुआ है ।प्रकृति से विकार एवं वैकारिक विश्व का विकास हुआ है । वही अव्यय अपने अमृतप्रधानरूप से विश्व का आत्मा बना हुआ है एवं वही अव्यय मृत्युप्रधानरूप से विश्व बना हुआ है । **"स लोककर्त्ता, स उ लोक एव"** इत्यादि

श्रुतियाँ भी यही कह रही हैं। इस परिस्थिति से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि एक ही अव्यय के **अविनाशी-विनाशी** दो रूप हैं। बलगर्भित रसप्रधान वही अव्यय अविनाशी है, रसगर्भित बलप्रधान वही अव्यय विनाशी है। विततरूप बलप्रधान विश्व उसीका विनाशी (मृत्युरूप) रूप है। अविनाशी अव्यय तो उसे समझना चाहिए, जो कि इस वितान का कारण है। इस प्रकार–"**अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्**" इस श्लोक का "**तु**"–शब्दस्वारस्य उक्त दोनों रूपों को ही स्पष्ट करता है। यद्यपि परमार्थदृष्टया आत्मवत्-विश्वरूप भी अविनाशी ही है। परन्तु व्यवहारदृष्टि से युक्त भूतात्मवादी अर्जुन थोड़ी देर के लिए भूतात्मसंश्लिष्ट शरीरप्रपञ्च को विनाशी मान भी लेता है तो भगवान् कहते हैं कि अच्छा उसका शरीरप्रपञ्च विनाशी ही सही। परन्तु इसी अज अव्यय का जो अविनाशी अमृत प्रधान व्यापकस्वरूप है, उसे तू समझ लेगा, तब भी काम चल जायगा। इसी अभिप्राय से हमने मूलानुवाद में–"**जो इस अज अव्यय को नित्य एवं अविनाशी समझलेता है**" यह अर्थ किया है। इसका तात्पर्य्य यही है कि जो विवेकी–"अजअव्यय के उस विश्वातीत अविनाशी स्वरूप को पहचान लेता है, वह भी द्वन्द्वभाव से विमुक्त होता हुआ शोकातिग बन जाता है। निष्कर्ष यह निकला कि–सर्वत्र अव्यय भावना रखना परमोत्तम मार्ग है। एवं विश्व-शरीरप्रपञ्च उसका मर्त्यरूप है, यह कभी बचेगा नहीं, इसीका अविनाशीभाव अमृत रूप है, शरीर नष्ट होने पर भी वह कभी मरेगा नहीं, यह दूसरा मार्ग है। इस प्रकार लोकसंग्राही भगवान् लक्ष्यभेद से अर्जुन का ध्यान उसी द्वन्द्वातीत व्यापक अव्यय की ओर आकर्षित कर रहे हैं।

परिस्थिति यह है कि अर्जुन युद्ध करने के लिए उपस्थित है। भगवान् इसके सारथी हैं। भूतात्मानुयायी अर्जुन को क्षोभ उत्पन्न होता है। वह कह पड़ता है, मैं इन्हें न मारूंगा। भगवान् कहते हैं–तू अवश्य इन्हें मार। इस प्रकार पुरुषावतार श्रीकृष्ण मारने की प्रेरणा कर रहे हैं। विषण्णवदन अर्जुन कहता है–भगवन्! आप मुझे प्रेरणा कर रहे हैं, संभव है, आपकी प्रेरणा से मैं युद्धकर्म्म में प्रवृत्त भी हो जाऊँ। परन्तु परिणाम यह होगा कि दुनिया मुझे तो हत्यारा कहेगी ही, साथ ही में आपके लिए भी–"अरे उसने प्रेरणाकर सर्वनाश करवाया" यह जनश्रुति चल पड़ेगी। अर्जुन के इसी भाव का शमन करते हुए भगवान् कहते हैं कि अर्जुन! जब तक तेरी दृष्टि भूतात्मा पर है, तभी तक तू ऐसा समझ रहा है। यदि तू अव्यय-पुरुष को पहचान ले तो तत्काल तेरी उक्त भावना शान्त हो जाय। तुझ में, मुझ में, राजाओं में, सम्पूर्ण विश्व में एक रूप से व्याप्त रहने वाला वह अव्ययपुरुष क्या अपने ही स्वरूप को मरवा सकता है? असंभव। "**मैं प्रेरित कर रहा हूं, तू नाश कर रहा है**" यह भेदव्यवहार प्रकृतिमूलक प्रतिशरीरभिन्न भूतात्मा से सम्बन्ध रखता है। पुरुष एक है। वहाँ मैं-तू का झगड़ा ही नहीं है। वहाँ न तू तू है, न मैं मैं हूं। वहाँ तो एकमात्र अखण्ड-अद्वय-पुरुष का साम्राज्य है। एक ही पुरुष अपने आपको अपने नाश के लिए प्रेरित करे–यह कौन आत्मवेत्ता स्वीकार करेगा? यहाँ पुरुष शब्द पार्थ का विशेषण नहीं है, अपितु अविनाशी अव्यय का वाचक है। "हे पार्थ! वह अव्यय पुरुष किसे प्रेरित करता है, किसे मारता है," यही तात्पर्य्य है। अथवा यदि व्याख्याताओं के अनुसार इसे पार्थ का ही विशेषण माना जाय तो उस पक्ष में "**हे पुरुषतत्त्ववेत्ता पार्थ! जो उसे जान लेता है, उसकी दृष्टि में कौन किसे प्रेरित करता है, एवं कौन किसे मारता है**" यह अर्थ होगा। अथवा न तो पुरुष को पार्थ का विशेषण माना जाय न अव्यय

का वाचक माना जाय, अपितु आत्मवेत्ता का वाचक माना जाय, तो इस पक्ष में–"**हे पार्थ ! जो पुरुष आत्मा की नित्यता समझ लेता है, उसकी दृष्टि में न कोई किसी को प्रेरित करता, न कोई किसी को मारता**" यह अर्थ करना चाहिए। इन तीनों में सामान्यदृष्टि से यद्यपि इष्टापत्ति है, परन्तु विज्ञानदृष्टि के अनुसार पुरुषशब्द व्यापक अव्यय का ही वाचक है। फलतः प्रथमार्थ ही विज्ञानसम्मत है। प्रेरणा करना, मारना ये वैकारिकभाव परिच्छिन्न-प्रकृति के धर्म्म हैं। अपरिच्छिन्न-कारणरूप अविनाशी अव्यय पुरुष के नहीं, यही तात्पर्य्य है।

।। इति ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषदि चतुर्थोपदेशः ।।

४–(क)

प्रथमोपनिषदि—

चतुर्थोपदेशः

४–(ख)–अपि चैतस्मिन्नव्यये-महतोऽक्षरात्मनो मूर्त्तियोनित्वस्वाभाव्याच्छरीरविधरणपरित्यागलक्षणयोर्जन्ममरणयोः-पौनःपुनिकत्वनियमादनुशोकानौचित्यम् ।❀

१–वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

(गीता २।२२)

[मूलानुवाद] "जिस प्रकार पुराने फटे गले वस्त्रों को छोड़कर मनुष्य नवीन वस्त्र धारण कर लेता है, एवमेव जीर्ण-शीर्ण शरीरों को छोडता हुआ यह देही (देहाभिमानी भूतात्मा) अन्य अन्य नवीन नवीन शरीरों को प्राप्त होता रहता है।"

[भाष्य] भगवान् ने अनेक प्रकार से अर्जुन को परमात्मबोध कराया, परन्तु अर्जुन की दृष्टि अभी भूतात्मा पर से न हटी। यही तो जीव का जीवत्त्व है। "अविनाशी अव्यय नित्य है, शाश्वत है, **पुराण है, जन्म-मरणद्वन्द्व से सर्वथा विरहित है**" यह सुनते ही चिराभ्यस्तभूतानुगामी अर्जुन को सन्देह होता है कि यदि अव्यय ऐसा है तो फिर उसका तथा शरीर का साथ सम्बन्ध ही कैसे माना जा सकता है? इस सन्देह का कारण भगवान् का–"**न हन्यते हन्यमाने शरीरे**" यह वाक्य था। "**शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु वह नष्ट नहीं होता**" इन अक्षरों से जैसे अव्यय की नित्यता एवं शरीर की अनित्यता सिद्ध होती है, एवमेव साथ साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि नित्य आत्मा का अनित्य शरीर के साथ सम्बन्ध भी

❀पूर्वोपात्त व्यापक **अव्यय-पुरुष** पराप्रकृति नाम से प्रसिद्ध **अक्षरब्रह्म** एवं अपरा प्रकृति नाम से प्रसिद्ध क्षरनामक **महद्ब्रह्म** के साथ नित्य युक्त रहता है। अक्षरानुगृहीत महद्ब्रह्म ही मूर्त्ति (शरीर) भाव की योनि है। इसके इस स्वभावधर्म्म से नवीन नवीन शरीर उत्पन्न होता रहता है, पुराने शरीर नष्ट होते रहते हैं। इस क्रम से अव्यय के साथ नश्वर शरीर का योगरूप जन्म भाव, वियोगरूप मृत्यु-भाव धारावाहिक रूप से बार बार चक्रवत् परिवर्त्तित होता ही रहता है। इन आगन्तुक, उत्पन्न विनाशशाली द्वन्द्वों से न अव्यय की हानि होती, न ह्रास होता। फलतः अव्ययानुगामी के लिए द्वन्द्वमूलक अनुशोक करना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है।

अवश्य ही रहता है। यह माना कि यह सम्बन्ध शाश्वत नहीं है। परन्तु इससे क्या हुआ ? थोड़े समय के लिए ही सही। सम्बन्ध तो है। जब सम्बन्ध है तो उसका वियोग भी निश्चित है। वियोग है तो फिर शोक भी अनिवार्य है। कारण रहे और कार्य्योत्पत्ति न हो, असम्भव। अग्नि रहे, और धूम न हो। शोक का कारण आत्मवियोग रहे और शोक न हो-यह कैसे सम्भव है ? अर्जुन की आशङ्का का अभिप्राय यह है कि यदि अव्यय व्यापक है तो उसका परिच्छिन्न शरीर के साथ **"अहंत्वेन"** बन्धन नहीं होना चाहिए। यदि अहंत्वेन शरीर के साथ उसका बन्धन है तो फिर वह व्यापक नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष में हम शरीर देख रहे हैं। साथ ही में **अहं सुखी, अहं दुःखी** इत्यादिरूप से शरीर के साथ सुख-दुःख का अनुभव कर रहे हैं। प्रत्यक्षसिद्ध अर्थ को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। जब शरीर का और उसका योग है तो वह कथमपि व्यापक नहीं हो सकता। व्यापकत्वाभाव में प्रतिशरीर में उसकी भिन्नता सिद्ध हो जाती है। फलतः शोक की उच्छित्ति असंभव बन जाती है। अर्जुन की इस आशङ्का का समादर करते हुए, आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध मानते हुए विज्ञानदृष्टि से अव्यय की व्यापकता का निरूपण करने के लिए **"वासांसि जीर्णानि"**–यह कहते हैं।

पूर्व में कहा जा चुका है कि अव्यय पुरुष अपनी क्षर-अक्षर प्रकृतियों के साथ नित्य युक्त रहता है। अव्यय का यद्यपि शरीर के साथ योग नहीं है, परन्तु क्षराक्षर के साथ अवश्य ही शरीर का योग है। इसी परम्परा से विवेकज्ञान के अभाव से हम अव्यय का शरीर के साथ योग मान बैठते हैं। हम नहीं चल रहे, ट्रेन चल रही है। इसलिए हमें परम्परया यह भ्रान्ति हो जाती कि–"हम जा रहे हैं"। अक्षर निमित्त कारण है। इसी को **अन्तर्य्यामी** कहा जाता है। अव्ययानुगृहीत यही अन्तर्यामी प्रत्येक प्राणी के हृदय में प्रतिष्ठित होकर उसके भूतयन्त्र का संचालन करता रहता है, जैसाकि–**"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"** इत्यादि में स्पष्ट हो जायगा। क्षर उपादान कारण है। इसी को **"महद्ब्रह्म"** कहा जाता है। इसकी प्रतिष्ठा शुक्र (वीर्य्य) है। इसमें **काम-पूर्वप्रज्ञा-भावना वासना संस्कार** आदि उत्पत्ति के बीज प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी बीज के प्रभाव से महद्ब्रह्म को नवीन शरीर धारण करना पड़ता है। इसी महद्ब्रह्म पर दैवीमाया का अनुग्रह रहता है। यह माया त्रिगुणभावमयी है। इसी के सम्बन्ध से महान् त्रैगुण्य का उदय होता है। साथ ही में विज्ञान-सूर्य्य के साथ दर्शपूर्णमास होने से इस में आकृति-प्रकृति-अहंकृति–इन तीन भावों का जन्म होता है। इन ६ओं के सम्बन्ध से यह महद्ब्रह्म षड्गुणक बन जाता है, जैसा कि–**"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्"** इस प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। महद्ब्रह्म शरीरनिर्म्माण में स्वयं समर्थ नहीं है। कारण, क्षरप्रधान होने से अर्थप्रधान बनता हुआ यह निष्क्रिय है। अव्ययज्ञान से सर्वज्ञ बना हुआ वह अक्षर ही अपनी स्वाभाविक ज्ञान-क्रिया-शक्ति से महद्ब्रह्म में निहित संस्कारों के अनुसार उसका तत्तच्छरीरविशेषों के साथ योग कराया करता है। हमारी आध्यात्मिकसंस्था में विज्ञानज्ञानानुगृहीत प्रज्ञान एक स्वतन्त्र तन्त्रायी है, महद्ब्रह्मावच्छिन्न अक्षररूप अन्तर्यामी एक स्वतन्त्र तन्त्रायी है। इन दोनों में परस्पर में प्रतिद्वन्द्विता रहती है। परन्तु विजय प्रत्येक दशा में अन्तर्य्यामी की ही होती है। यही अन्तर्य्यामी महत् के सम्बन्ध से अहंभाव का प्रेरक बनता हुआ देहाभिमानी बन रहा है। इस का यह अभिमान सत्य है। क्योंकि इसी ने तो महत् के द्वारा देह का निर्म्माण कराया है। यही तो महद्द्वारा देह की प्रवृत्ति का मूल कारण बनता है।

जब शरीर वेदना से युक्त हो जाता है, रोगाक्रान्त बन जाता है अथवा प्राप्त समय पर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है तो उस समय उक्त दोनों आत्मविवर्त्तों की प्रतिद्वन्द्विता देखने योग्य है। जीवाभिमानी प्रज्ञान कहता है-यह शरीर मेरे से कभी न छूटे। इसी ज्ञान के कारण एक अस्सीवर्ष का बुड्ढा भी यही चाहा करता है कि अभी और कुछ जीलूं तो अच्छा है। उधर परमात्माभिमानी अक्षरात्मक अन्तर्य्यामी तत्काल ऐसे शरीर को छोड देता है। जब समय नहीं आता और रोग का आक्रमण होता है, उस समय भी अन्तर्य्यामी शरीर से घबरा जाता है। ऐसे समय में-"मर जाय तो अच्छा है, यह अक्षर भी निकलते हैं, परन्तु मन कहता है, न मरे तो अच्छा है। यदि रोग साध्य होता है तो अन्तर्य्यामी मन का कहना मान लेता है, परन्तु असाध्यावस्था हो जाने पर मन की जरा भी परवा न करता हुआ अन्तर्यामी उस महद्ब्रह्म को शरीर छोड़ने के लिए बाध्य कर देता है। एवमेव शरीर के अत्यन्त जीर्ण होने पर भी यह अपनी इच्छा से शरीर छुडवाता हुआ महद्ब्रह्म को बीजानुसार अन्य मूर्त्ति में प्रतिष्ठित कर देता है। अन्तर्य्यामी की इस इच्छा का हमें अनुभव नहीं होता। हमें अनुभव होता है केवल विज्ञानसंपरिष्वक्त प्रज्ञानेच्छा का। प्रज्ञानाभिमानी जीव अपनी इच्छा से कभी अन्य शरीर धारण नहीं करता। अपितु वह अन्तर्य्यामी बलात् उसे अन्य शरीर से युक्त कर देता है। इसी अभिप्राय से भगवान् ने-'**संयाति**" कहा है। जीर्णवस्त्र का परित्याग एवं नवीन वस्त्र धारण करना-यहां तो प्रज्ञानयुक्त अहंत्वाभिमानी भूतात्मा की प्रज्ञानेच्छा ही प्रधान है। इसीलिए वस्त्रपरित्यागधारणसम्बन्ध में तो भगवान् ने-"**नरोऽपराणि गृह्णाति**" यह कहा है। "**नर ग्रहणकरता है**" इस वाक्य से भगवान् शरीराभिमानी जीवसंज्ञक भूतात्मा की स्वतन्त्रता बतला रहे हैं। परन्तु शरीर छोड़ना-बदलना इस की इच्छा के बाहर की बात है। पाठकों को यह विदित है कि दृष्टान्त सदा एकदेशी होता है। "**चन्द्रवन्मुखम्**" का तात्पर्य केवल आल्हादगुण से है। एवमेव "**वासांसि जीर्णानि**" का तात्पर्य्य केवल ग्रहण-परित्याग से है। सर्वात्मना इस दृष्टान्त की समता प्रकृत में नहीं हो सकती। वस्त्र अवश्य ही जीर्ण होने पर मन की पसन्द से उतर जाता है, परन्तु जीर्ण शरीर को कभी मन नहीं छोड़ना चाहता। जैसा कि पूर्व में कहा जाचुका है। वस्त्र छोड़ने की इच्छा "**नर**" करता है, शरीर छोडने की इच्छा "**देही**" करता है। नर में मनुष्यसृष्टि का विकास होता है, जैसाकि मन और मनु का अभेद बतलाने वाली-"**पुनन्तु मनसा धियः पुनन्तु मनवो धिया**" इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। अस्तु, इस विषय का विशद विवेचन-"**महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा**" इत्यादि प्रकरण में होने वाला है। प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि देहाभिमानी जीव नहीं अन्तर्य्यामी है। एक चमत्कार और है। देहाभिमानी भी केवल शीर्ण शरीर छोड़ने में ही स्वतन्त्र है। वह चाहे कि जीव को उत्तम शरीर मिल जाय, यह असंभव ही है। जैसा इस जीव का सांस्कारिककर्म्म होता है, तदनुरूप शरीर में महद्ब्रह्म द्वारा इसे प्रतिष्ठित कर देना ही इस की इच्छास्वातन्त्र्य का अवसान है। इसी अभिप्राय से "गृह्णाति" न कहकर "संयाति" कहा है। "**देही इच्छानुसार शरीर छोडकर कर्म्मानुसार अन्य शरीरों को प्राप्त होता है**" यह कहा है। जैसा शरीर संस्कारवश प्राप्त होना होता है, वैसा प्राप्त हो जाता है। अपनी इच्छा से यह प्राप्त नहीं करता। यदि ऐसा ही इच्छास्वातन्त्र्य हो तो यह कभी बंधन में न पड़े, परन्तु अन्तर्य्यामी को भी नियतिसूत्र से बद्ध रहना पड़ता है।

उक्त प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि शरीर धारण करना, शरीर छोडना-यह सब महद्ब्रह्मत्वावच्छिन्न देहाभिमानी परिच्छिन्न अक्षरात्मा का धर्म्म है। यह नियम शाश्वत है। इन दोनों के साथ नित्य-

युक्त रहता हुआ भी देहाभिमान से सर्वथा रहित, कार्यकारणातीत विशुद्ध अव्ययब्रह्म न कभी शरीर धारण करता, न कभी शरीर छोडता। कारण, ग्रहण-परित्याग अविनाशी-व्यापक अव्यय में सर्वथा असंभव हैं। शरीर नष्ट हो गया तो उसका कुछ बिगड़ा नहीं, सुन्दर शरीर मिल गया तो उसका कुछ लाभ नहीं। द्वन्द्वातीत का इन द्वन्द्वभावों के साथ क्या सम्बन्ध ? भगवान् इस दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक से अर्जुन को यही बतलाना चाहते हैं कि शरीरपरिवर्त्तनरूपप्रवाह भूतात्मा का धर्म्म है। तू परमात्मलक्षण व्यापक अव्यय पर दृष्टि रख। जिस दिन तेरी दृष्टि अव्यय पर चली जायगी, उस दिन शरीर-ग्रहण, शरीर-परित्याग में उसी प्रकार तुझे हर्ष-शोक न होगा, जैसे कि पुराने वस्त्रों को छोड़कर नवीन नवीन वस्त्र धारण करते समय मनुष्य को हर्ष-शोक नहीं होता। तू समझ लेगा कि यह शरीरपरिवर्तन तो अक्षरा-नुगृहीत, मूर्त्तिभावप्रवर्त्तक महद्ब्रह्म का शाश्वत प्रवाह है।

॥ इति ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषदि चतुर्थोपदेशः ॥

४–(ख)

——

प्रथमोपनिषद् —

पञ्चमोपदेशः

५—अपि चैतस्याव्ययात्मनः पञ्चभूतगुणाननुस्पृष्टत्वेन-विनाशासंभवादनुशोकानौचित्यम् ।❀

१—नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।। (गीता २।२३)

२—अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।। (गीता २।२४)

३—अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।। (गीता २।२५)

[मूलानुवाद]—"इस (अव्ययात्मा) को शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि नहीं जला सकता, पानी नहीं सड़ा सकता, वायु शोषण नहीं कर सकता। यह कटने के अयोग्य है, जलने के अयोग्य है, सड़ने के अयोग्य है, शोषण के अयोग्य है। यह तत्त्व नित्य है, सर्व-व्यापक है, ठहरा हुआ है, कम्पशून्य है, सनातन है। यह (तात्त्विकों द्वारा) अव्यक्त कहा गया है, अचिन्त्य कहा गया है, अविकारी कहा गया है। इसलिए तू इसे ऐसा समझता हुआ अनुशोक करने योग्य नहीं है।"

[भाष्य] एक विजातीय वस्तु विजातीय वस्तु पर आघात प्रत्याघात कर सकती है। सजातीय वस्तु भी विजातीय वस्तु पर आघात प्रत्याघात कर सकतीहै। सजातीय वस्तु भी सजातीय वस्तु पर प्रत्याघात कर सकती है। तात्पर्य इसका यह हुआ कि आघात प्रत्याघात का भेदबुद्धि से सम्बन्ध है। **"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्"** इस श्रुतिसिद्ध त्रिविधभेदभिन्न अभिन्न आत्मा पर कौन आघात कर सकता है ? इस अव्यय से विरुद्धस्वरूप रखने वाला कोई दूसरा अव्यय नहीं है। इसलिए यह विजातीयभेदशून्य है। अव्यय जैसा अव्यय भी दूसरा नहीं है, इसलिए यह सजातीयभेदशून्य है। स्वयं अव्यय भी आकाशवत्

❀ पञ्चभूत एवं पञ्चतन्मात्रादिगुणभूतों से अव्यय सर्वथा निर्लिप्त है, फलतः इसका विनाश कदापि सम्भव नहीं है। इसलिए तेरा अनुशोक करना व्यर्थ है।

निरवयव अखण्डधरातल है। इसलिए यह स्वगतभेदशून्य है। "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु-चन्द्रमाः । ता आपः**" इत्यादि के अनुसार वही अव्यय अग्नि है, वही अव्यय वायु, है, वही अव्यय पानी है । वही अव्यय शस्त्र है । वही कटने वाला है, वही काटने वाला है । वही जलने वाला है, वही जलाने वाला है । सर्वत्र सब वही है तो फिर उसके नाश की आशङ्का कैसी ? उदाहरण के लिए एक प्रतिबिम्बित सूर्य्य पर दृष्टि डालिए । इस प्रतिबिम्ब पर खूब तलवार चलाइए, खूब अग्नि वर्षा कीजिए, खूब वायु का प्रयोग कीजिए । खूब पानी डालिए । न वह कटेगा, न जलेगा, न सूखेगा, न सड़ेगा । अर्जुन की दृष्टि व्यापक पर नहीं, अपि तु देहाभिमानी भूतात्मा पर है । भगवान् कहते हैं–अच्छा भूतात्मा पर ही दृष्टि रख । परन्तु ध्यान रहे, तेरी दृष्टि भूतमय आत्मा पर है । तू आत्मा पर दृष्टि नहीं रख रहा, अपितु भूतविष्ट आत्मा पर दृष्टि रख रहा है । हम तुझे यही बतलाना चाहते हैं कि तू भूत को पृथक् करके तत्प्रतिबिम्बित चिदात्मा पर दृष्टि डाल । वह एक है । वह असंग है । वह व्यापक है ।

सम्पूर्ण त्रैलोक्य में सूर्य्य व्याप्त है । १० घड़े पानी के रक्खे हैं । घट-अपच्छेद से एक ही सूर्य्य प्रतिबिम्बरूप से १० जगह प्रतिभासित हो रहा है । साथ ही में अज्ञजन यह भी देख एवं समझ रहे हैं कि एक घड़ा फूट जाता है । घटनाश से प्रतिबिम्ब भी उच्छिन्न हो जाता है । दूसरे प्रतिबिम्ब ज्यों के त्यों सुरक्षित रक्खे हैं । परन्तु एक वैज्ञानिक समझता है कि कहने को १० सूर्य्य हैं । एक ही का ग्राहक-रूप उपाधिभेद से १० स्थानों पर भान हो रहा है । १० सौघटों के मध्यस्थानों में भी वही है । पात्र रख दीजिए । वहाँ भी वह प्रकाशित हो जायगा । सुतरां, सूर्य्य का एकत्त्व सिद्ध हो जाता है । साथ ही में यदि घटनाश से प्रतिबिम्ब का नाश मान लिया जाय तो उसी स्थान पर अन्य घट रखने से प्रति-बिम्ब का उदय नहीं होना चाहिए । परन्तु होता है । इसलिए इसका अविनाशित्त्व भी सिद्ध है । साथ ही में प्रतिबिम्ब और पानी का असंगभाव तो हम प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं । ठीक यही अवस्था चिदाभास लक्षण देहाभिमानी भूतात्मा के सम्बन्ध में समझनी चाहिए । पञ्चतन्मात्रा एवं पाञ्चभौतिक शरीरो-याधिभेद से आभास लक्षण आत्मा अवश्य ही प्रतिबिम्बित सूर्य्यवत् भिन्न-भिन्न प्रतिभासित हो रहा है । परन्तु उपाधि छोडकर केवल प्रतिबिम्बदृष्टि से तू आत्मा का विचार करेगा तो उसका एकत्व, अवि-नाशित्व एवं असंगत्व सर्वथा स्फुट हो जायगा । यदि तू प्रतिबिम्बित सूर्य्य को शस्त्रादि से क्षतविक्षत नहीं कर सकता तो फिर इन पुरोऽवस्थित चिदाभासलक्षण बन्धुओं के आत्मा का शस्त्रादि से क्या बिगाड़ सकता है ? तेरे भौतिकशरीर के भौतिकव्यापार से उनके भौतिकशरीर छिन्न-भिन्न हो सकते हैं । शरीरों को तू छिन्न-भिन्न नहीं करेगा तो वे तो क्षणिकपरिवर्तन के कारण आज भी छिन्न-भिन्न हो रहे हैं । ऐसी स्थिति में नित्यविकृत शरीरविकृतिजनित शोक भी व्यर्थ है एवं आत्मा का तू कभी कुछ बिगाड़ नहीं सकता, इसलिए आत्म-दृष्टि से भी तेरा अनुशोक व्यर्थ है । केनोपनिषत् ने ज्ञानीयतृणद्वारा इसी अर्थ का स्पष्टीकरण किया है (देखिए ईशोप० हि० वि० भाष्य) ।

आग-पानी-हवा–ये तीन तो प्राकृतिक आक्रमण हैं । इन्हें हम **आधिदैविक** आक्रमण कहेंगे । किसी के लात-घूंसा-थप्पड जमादी । चाकू-छुरी से आघात कर दिया । गले में रूमाल कस कर कण्ठाव-रोध कर दिया । तलवार-तीर-बर्छी से शरीर वेध डाला । ये सब कृत्रिम आक्रमण हैं । इन्हें हम **आधि-भौतिक** आक्रमण कहेंगे । त्रिविध प्राकृतिक आक्रमण, अनेकविध कृत्रिम आक्रमण इन दोनों से ही असंग

आत्मा को कोई अनिष्ट नहीं हो सकता। आधिभौतिक आक्रमणों में प्रकृत में शस्त्राक्रमण का ही अवसर है। अतः भगवान् ने उसीका उल्लेख कर दिया है।

कदाचित् अर्जुन की दृष्टि अब भी भूतात्मा पर ही हो तो इस पक्ष में भी भगवान् की **"नैनं छिन्दन्ति"** इस उक्ति का समन्वय किया जा सकता है। भूतात्मा यदि कोई पातक कर बैठता है तो उस पाप का संस्कार उस पर लिप्त हो जाता है। ये ही पातक धर्म्मशास्त्र में भूतात्मा के दोष में माने गए हैं। **मलिनीकरण, संकरीकरण, जातिभ्रंशकर** आदिभेद से दोष अनेक प्रकार के हैं। इन दोषों के तारतम्य से दोष अनेक प्रकार के हैं। इन दोषों के तारतम्य से देश-काल-पात्र के अनुसार भिन्न-भिन्न दण्डविधान हैं। यदि भूतात्मा को दण्ड दे दिया जाता है तो उसकी विशुद्धि हो जाती है। यह दण्डविधान उसका उपकारक है। एक आततायी यदि अधिक दिन जीवित रहेगा तो वह और अत्याचार करेगा। साथ ही में इसके सहयोग से अन्य मनुष्य भी बुरे कर्म्म में प्रवृत्त होते हुए आत्मा को मलिन करेंगे। इसलिए इस आततायी का वध कर डालना ही इसका एवं समाज का कल्याण है। दण्ड से उसने फल भोग लिया। दण्डरूप प्रायश्चित से वह विशुद्ध बन गया, औरों की रक्षा हो गई। इसी आधार पर धर्म्मशास्त्र ने– **"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्"** इत्यादिरूप से आततायी के लिए शस्त्रादि से वधदण्ड का विधान किया है। यदि किसी द्विजाति ने अन्त्यज का स्पर्श कर लिया तो उसका भूतात्मा मलिन हो गया। उसे पानी से स्नान कर लेना चाहिए। कारण–**"पवित्रं वा आपः"** के अनुसार पानी पवित्र है। **"अग्निः पावक ईड्यः"** के अनुसार अग्नि भी भूतात्मा का विशोधक ही माना गया है। इसीलिए कुमारिलभट्टने सदेह अग्नि में अपना शरीर जलाया था। यही जगन्माता सीता की अग्नि परीक्षा का कृत्रिम अभिनय था। इसी प्रकार आत्मावरण को दूर करने के लिए योगीलोग वायु का ही पान किया करते हैं। भगवान् कहते हैं कि शस्त्र-अग्नि-पानी-हवा–ये कृत्रिम एवं प्राकृतिक पदार्थ अधिकारीभेद से भूतात्मा के विशोधक हैं। इन से आत्मा का कल्याण होता है। तू जानता है कि दुर्योधनादि आततायी हैं। साथ ही में जिन्हें तू गुरु-पितामह-बन्धु-बान्धव समझ रहा है, वे आततायी दुर्योधन की रक्षा के लिए उपस्थित हैं। फलतः ये भी परम्परया तेरे लिए आततायी हैं। यदि तू इन्हें न मारेगा तो भूतात्मा का तू अपकार करेगा। तू कह रहा है–**"अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्"**। अर्जुन! तू इन्हें न मार कर पाप करेगा। कारण, पाप-पुण्य अतीन्द्रिय पदार्थ हैं। इस सम्बन्ध में अपना निर्णय व्यर्थ है। अतीन्द्रियार्थद्रष्टा धर्म्माचार्यो ने जिसे पाप कहा है, वह पाप है। जिसे पुण्य कहा है, वह पुण्य है। आततायी को मारना पुण्यकर्म्म है, न मारना पापकर्म्म है। इन्हें न मार कर तू अवश्य ही पाप का भागी बनेगा। तू मार कहाँ रहा है, केवल दोषमार्जन कर रहा है। जिसे कभी मरना है, उसे पुण्यदृष्टि से तू आज ही मार डालेगा तो पुण्य होगा। जो न मरने वाला भूतात्मा है, वह अव्ययदृष्ट्या कभी न मरेगा। इसलिए स्पष्ट है। शस्त्र दोष का छेदन करते हैं, अग्नि दोष को जलाता है, पानी दोष को हटाता है, वायु दोष का अपहरण करता है। आत्मा का इन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जो दार्शनिक आकाश को (मर्त्य-भूताकाश को) विभु मानते हैं, उनका कहना है कि पञ्च महाभूतों में से आघात-प्रत्याघात का सम्बन्ध **पृथिवी-जल-तेज-वायु** इन चार ही महाभूतों से हैं। **शस्त्र-आप-अग्नि-मारुत से** भगवान् ने इन्हीं चारों का ग्रहण किया है।

आगन्तुक धर्म्मों से भी पदार्थों में अच्छेद्यत्वादिगुण पैदा कर दिए जाते हैं। औषधिप्रयोगविशेष करने के पश्चात् आप उस पदार्थ को न काट सकते, न जला सकते, न शिथिल कर सकते, न उडा सकते, किंवा सुखा सकते। भगवान् कहते हैं, शस्त्रादि से आत्मा आगन्तुकधर्म्मों से अच्छेद्यादि नहीं है। अपितु ये उसके स्वरूपधर्म्म हैं। अपनी महिमा है-"**अपि वा स्वेमहिम्नि प्रतिष्ठितम्**"। यह अव्ययात्मा निरवयव होने से **अच्छेद्य** है। असंग होने से **अदाह्य** है। पाप्मविरहित होने से एवं सर्वबलविशिष्ट रसमूर्त्ति होने से **अक्लेद्य** है। नित्यरसप्रधान होने से **अशोष्य** है। द्वन्द्वभावविरहित होने से **नित्य** है। व्यापक होने से **सर्वगत** है। दैशिकस्थानाभाव के कारण **स्थाणु** है। कालिकस्थानाभाव के कारण **अचल** है। अवारपारीण एवं तीनों कालों में समानरूप से व्याप्त रहने के कारण **सनातन** है। इस प्रकार भूतात्मवादी अर्जुन को भगवान् यह बतलाना चाहते हैं कि अर्जुन! जिसे तू भूतात्मा समझ रहा है वह एवं जिस परमात्मा का मैने दिग्दर्शन कराया है वह, दोनों भूतमात्रा को हटाने पर एक हैं। चिदाभासलक्षण जीव, चिद्घनलक्षण ईश्वराव्यय में कोई अन्तर नहीं हैं।

आखिर तो अर्जुन भूतात्मवादी था। सम्भव है-इतने पर भी उसे व्यापकता का बोध न हो। वह प्रश्न कर बैठे कि भगवन्! यदि वह और यह एक है तो शरीराभिमान किस को होता है? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए भगवान् को-**अव्ययात्मप्रकरणोपसंहार में-"अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते"** यह कहना पड़ा। भगवान् कहते हैं, अर्जुन! तेरी आशङ्का ठीक है। परन्तु **विवेकदृष्टि से आत्मस्वरूप** का विचार कर। भूतात्मा में **अव्यक्त-अचिन्त्य-अविकार्य** भेद से तीन कलाएँ हैं। तीन कला नहीं हैं, एक ही आत्मा के तीन विवर्त्तभाव हैं। **पर ब्रह्म** पहला विवर्त्त है, **परमब्रह्म** दूसरा विवर्त्त है, **महद् ब्रह्म** तीसरा विवर्त्त है। जैसाकि चतुर्थ उपदेश में बतलाया जा चुका है। महद्ब्रह्म क्षरात्मा है, यही भूतात्मा की प्रतिष्ठा है। संसार में जितने विकार हैं, वे सब इसी क्षरात्मा से उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होने वाले प्राणादि पञ्च विकार ही **'विश्वसृट्'** नाम से प्रसिद्ध हैं। उस क्षरात्मा से अनन्त विकार उत्पन्न होते हैं, परन्तु वह स्वस्वरूप से उसी प्रकार अविकृत रहता है, जैसे कि अपने ही भाग से जाल उत्पन्न करती हुई मकड़ी स्वस्वरूप से अविकृत रहती है। दूध मलाई का कारण है। परन्तु इस कार्य कारणभाव में कारण का उपमर्द है। एक समय सारा दूध मलाई बन जाती है। किसी समय सारा लोह जंग बन जाता है। यही दार्शनिकभाषानुसार विकृत परिणामवाद है। यहां ऐसा कार्यकारणभाव नहीं है। व्यक्तरूप अनन्त विकारों को उत्पन्न करते हुए भी कारणरूपा अव्यक्त प्रकृति स्वस्वरूप से अक्षुण्ण रहती है। अतएव इस कार्यकारणभाव को अविकृतपरिणामवाद कहा जाता है। वृत्ति कार्य है। उसकी प्रथमावस्था कारण है। अतएव कार्य की प्रथमावस्थारूप इस अव्यक्त आत्मक्षर को "प्रकृति" (कृतेःप्रथमोभावः) कहा जाता है। इस प्रकृति का मूलाधार अक्षररूप परमब्रह्म है। इसीलिए इसे मूलप्रकृति कहा जाता है। यह अक्षर अर्थमात्रा से पृथक् होता हुआ इन्द्रियातीत है। इन्द्रियों का सम्बन्ध भूतमात्रा से है। भूतमात्रा का उदय अक्षर से होता है। फलतः नीरूप अक्षर की इन्द्रियातीतता सिद्ध हो जाती है। इसी अभिप्राय से भगवान् ने इसे "**अचिन्त्य**" कहा है। तीसरा परब्रह्म नामक अव्यय मूलप्रकृतिरूप अक्षर, अव्यक्तप्रकृतिरूप आत्मक्षर से भी परे रहता हुआ-"**न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः**" इस सिद्धान्त के अनुसार पुरुष नाम से प्रसिद्ध है। इसका विकार, किंवा वैकारिक शरीर से कोई सम्बन्ध

नहीं है। इसीलिए इसे "**अविकार्य**" कहा गया है। द्वन्द्वमूलक भूतात्मदृष्टि से भी यदि अव्यय का विचार किया जाता है, तब भी विशुद्ध अव्यय तो सर्वथा अविनाशी ही ही है। साथ ही में "अयम्"–"अयम्" "अयम्" यह कहते हुए भगवान् उस व्यापक परमात्मा की ओर भी अर्जुन का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। इस प्रकार–"**अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्**" इस प्रथमोपदेश से आरम्भ कर–"**नैनं छिन्दन्ति**" इत्यादि पञ्चमोपदेशपर्यन्त भगवान् कभी विशुद्ध व्यापक अव्यय की ओर, कभी भूतात्मप्रतिष्ठ अव्यय की ओर ही अर्जुन का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में "**अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्**" इस श्लोक से आरम्भ कर–"**अव्यक्तोऽयमचि०**" इत्यादि श्लोक (२।२५) पर्यन्त भगवान् की प्रधानरूप से परमात्म लक्षण अव्यय पर ही दृष्टि है। वहाँ से यहाँ तक एक **परमात्मप्रकरण** है। आगे के दो उपदेशों से **भूतात्मप्रकरण** का सम्बन्ध है। इस परमात्म-भूतात्मप्रकरण के भेद को सूचित करने के लिए "**अव्यक्तोऽयम्०**" इत्यादि से अगले श्लोक में–"**अथ**" शब्द (अथ चैनं नित्यजातम्) प्रयुक्त किया है। उपदेशों के साथ-साथ इस अवान्तर प्रकरणभेद को भी लक्ष्य में रखना समीचीन होगा। प्रकरणविभाग ही तो गीताहृदय की मूलप्रतिष्ठा है।

१—अविकार्यः—अव्ययात्मा→परब्रह्म
२—अचिन्त्यः—अक्षरात्मा→परमब्रह्म
३—अव्यक्तः—क्षरात्मा→महद्ब्रह्म
} →आत्मा उ एकः सन्नेतत् "अयम्"

॥ इति ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषदि पञ्चमोपदेशः ॥

५

—

षष्ठोपदेशः

६—जन्ममरणवति भोक्तरि कर्म्मात्मनि जन्ममरणद्वन्द्वस्य प्रवाहनित्यत्वादपरिहार्य्यत्वाच्च शोकानौचित्यम् ।*

१—अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।। (गीता २।२६)

२—जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।। (गीता २।२७)

३—अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।। (गीता २।२८)

[मूलानुवाद] "यदि तू इस आत्मा को नित्य उत्पन्न एवं नित्य नष्ट होने वाला मानता है, तब भी हे महाबाहो ! तुझे इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिए । क्योंकि उत्पन्न वस्तु की मृत्यु निश्चित है एवं मृत वस्तु की उत्पत्ति निश्चित है । इसलिए कभी न रोके जाने वाले उक्त प्राकृतिक नियम के सम्बन्ध में तुझे शोक नहीं करना चाहिए । सम्पूर्ण भूत आरम्भ में अव्यक्त हैं, मध्य में व्यक्त हैं, अन्त में फिर अव्यक्त (के अव्यक्त) हैं । इस स्वाभाविक परिवर्तन में शोक कैसा ?

[भाष्य] सब से पहले तो हम पाठकों का ध्यान श्लोकस्थ **"शोचितुमर्हसि"** इस वाक्य की ओर आकर्षित करते हैं । इस उपदेश से पहिले **"नानुशोचन्ति पण्डिताः"**[1] **"नानुशोचितुमर्हसि"**[2] इस प्रकार दोनों स्थलों में (प्रथमोपदेश में एवं पञ्चमोपदेश में) भगवान् ने—**"तुझे अनुशोक नहीं करना चाहिए, पण्डित लोग अनुशोक नहीं किया करते"** यह कहते हुए अनुशोक को अनुचित बतलाया है । प्रकृत ६ठे

---

*जन्म-मृत्युलक्षण द्वन्द्व से युक्त भोक्ता कर्म्मात्मा के साथ जनन-मरणद्वन्द्व का इसी प्रकार अनादि काल से प्रवाह चला आ रहा है । साथ ही में हम इस प्रवाह को रोक भी नहीं सकते । ऐसी परिस्थिति में शोक करना सर्वथा व्यर्थ है ।

१ गीता २।११ । २ गीता २।२५ ।

उपदेश एवं सातवें उपदेश में "**नैवं शोचितुमर्हसि**"[1] "**न त्वं शोचितुमर्हसि**"[2] "**न त्वं शोचितुमर्हसि**"[3] इत्यादि रूप से ("**इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिए**" इस रूप से) **शोक** को अनुचित बतलाया है। शोक और अनुशोक में क्या तारतम्य है ? इस प्रश्न का समाधान पूर्व किया जा चुका है। सिंहावलोकन दृष्टि से यहाँ भी उसकी पुनरावृत्ति की जाती है। निष्कारण शोक अनुशोक है, सकारण शोक शोक है। यदि परमात्मा पर दृष्टि रक्खी जाती है तो शोक का अवसर ही नहीं आता। कारण, परमात्मलक्षण अव्यय निर्द्वन्द्व है। यदि इस परमात्मप्रकरण में अर्जुन शोक करता है तो इस का यह शोक निष्कारण (व्यर्थ) बनता हुआ अनुशोककोटि में प्रविष्ट हो जाता है। बस, इसी रहस्य को सूचित करने के लिए भगवान् ने पञ्चोपदेशात्मक परमात्मप्रकरण में "**अनुशोक**" शब्द का व्यवहार किया है। दूसरे भूतात्मा का जन्म भी होता है, मृत्यु भी होती है। क्योंकि यह द्वन्द्वभावापन्न है। अतः इसके वियोग से जो शोक होता है, उसे व्यावहारिकदृष्टि से सकारण कहा जा सकता है। बस, इसी रहस्य को सूचित करने के लिए उपदेशद्वयात्मक भूतात्मप्रकरण में "**शोक**" शब्द का व्यवहार किया है।

अर्जुन सांख्यनिष्ठा को प्रधान मानता हुआ, दूसरे शब्दों में ज्ञानयोगी बनता हुआ शोक कर रहा है। यह प्रकरण के आरम्भ में ही कहा जा चुका है। सांख्यमतानुसार आत्मा प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है। साथ ही में वह सुख-दुःख का भोक्ता है। यह व्यवहारनिष्ठा है। व्यवहारदृष्टि से यह निष्ठा भी ठीक है। पहले भगवान् ने परमार्थनिष्ठा को अर्जुन के सामने रखते हुए व्यापक परमात्मा का स्वरूप अर्जुन के सामने रक्खा। यही स्वरूप सर्वथा सत्य भी है। परन्तु अब भगवान् भूतात्मपक्ष में भी शोकनिवृत्ति का उपाय बतला रहे हैं। अर्जुन कहता है-"भगवन् ! मैं तो यही समझता हूं कि आत्मा जन्म लेता है, मरता है। इस प्रत्यक्षसिद्ध सनातननियम को कल्पना नहीं मान सकता।" अर्जुन का यह कथन उसी सविशेष भूतात्मा से सम्बन्ध रखता है। भूतानुषक्त जीवात्मा-"**तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्**"[4] इस वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार अवश्य ही जन्म-मृत्युद्वन्द्व से युक्त रहता है। भूतात्मा पर ही यदि तेरी निष्ठा है तो कोई चिन्ता नहीं। फिर भी शोक करना व्यर्थ है। यदि हम शोक का प्रतीकार कर सकें तो शोक का कोई मूल्य है। जब हम यह जानते हैं कि भूतात्मा इसी प्रकार जन्म लेता रहेगा, इसी प्रकार मरता रहेगा। न हम उसके जन्म का निरोध कर सकते, न उसे मरने से बचा सकते, तो फिर इस प्राकृतिक नियम में शोक करना सिवाय मूर्खता के और क्या है ? भगवान् का अभिप्राय यही है कि जब जिस प्राणी को जन्म लेना होता है उस समय वह अवश्य ही जन्म धारण कर लेता है। साथ ही में जब उस का मृत्युकाल उपस्थित हो जाता है तो उसे कोई भी नहीं बचा सकता। मरना-जन्म लेना तेरे-मेरे हाथ की बात नहीं है। यह प्राकृतिक नित्यनियन्त्रण है। जो होना होता है, वह होकर रहता है। यही भवितव्यता का शाश्वत चक्र है। इस सम्बन्ध में एक बडा ही रोचक दृष्टान्त सुना जाता है। व्यासदेव एक बार अपने स्वामिभक्त दास पर अत्यन्त प्रसन्न होते हुए उसे अभिलषित वर देने के लिए सन्नद्ध हुए। दास ने निवेदन किया कि भगवन् ! मैं कभी न मरूँ, ऐसी कृपा कीजिए। व्यास के "तथास्तु" कहने पर दास कहने लगाकि भगवन् ! मुझे कैसे विश्वास हो कि यमराज

---

१ गीता २।२६। २ गीता २।२७। ३ गीता २।३०। ४ ब्रह्मसूत्र ३।१।१।१।

समय आने पर मुझे छोड़ देगा। इसलिए आप प्रत्यक्ष में यमराज से मिलकर मुझे अभयपद प्रदान कीजिए। व्यास दास को लेकर यमसदन पहुँचे। यम ने व्यास का बडा स्वागत किया। व्यासदेव के- "हमने दास को अमरपद दिया है, इसलिए आप इसे न मारना" यह कहने पर यम ने उत्तर दिया कि भगवन्! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, परन्तु मैं मृत्यु के नियन्त्रण में चलता हूं। मैं इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र नहीं हूं। इसलिए आप मेरे साथ दास को लेकर एकबार मृत्युदेव से मिल लें तो अच्छा हो। फलतः दास व्यास-यम तीनों मृत्युलोक में पहुँचे। वहाँ भी व्यास का अपूर्व स्वागत हुआ परन्तु मतलब की बात आने पर मृत्यु ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहाकि भगवन्! मैं भवितव्यता के नियन्त्रण में चलता हूं। एक बार आप मेरे साथ वहाँ पधारें तो सदा का झंझट मिट जाय। फलतः दास-व्यास-यम-मृत्यु चारों भवितव्यता के घर पहुँचे। वहाँ व्यास ने देखाकि ब्रह्मा-विष्णु-महेश-इन्द्र-वरुण-कुबेर-अग्नि-वायु-सब देवता भवितव्यता के अनुशासन में चल रहे हैं। भवितव्यता सबका संचालन कर रही है। व्यास का स्वागत हुआ। कैसे पधारे?—का उत्तर मिला दास को मृत्युपाश से विमुक्त करने। बस, व्यास के मुख से उक्त वाक्य का निकलना था कि तत्काल दास के प्राण उत्क्रान्त होगए। व्यास बडे विस्मय में पड़ गए और कहने लगे कि भगवन्! मैं तो इसे मृत्युपाश से विमुक्त कराने आपके पास आया था। परन्तु देखता हूँ कि परिणाम विपरीत निकला। भवितव्यता ने चित्रगुप्त को आदेश दिया कि देखो! हमने दास के सम्बन्ध में क्या लिखा है? चित्रगुप्त ने आदेशपत्र को देखा तो उसमें लिखा था—

यदा दासश्च व्यासश्च यमेन सह मृत्युना।
भवितव्यगृहं यान्ति तदा दासो मरिष्यति॥

तात्पर्य्य इस का यह है कि जिस समय दास, व्यास, यम और मृत्यु के साथ भवितव्यता के घर पहुँचेगे उसी समय दास मर जायगा। भवितव्यता ने व्यास का संतोष करते हुए कहाकि महाराज! आप ही दास की मृत्यु के कारण बने। न आप दास-यम-मृत्यु को लेकर मेरे पास आते, न दास मरता। उक्त आख्यान से प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि भवितव्यता के चक्र का कोई भी शक्ति निरोध नहीं कर सकती। यही चक्र अथर्ववेद में **कालचक्र** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। जब तक काल का आगमन नहीं होता, तब तक हजार शस्त्रों से भी प्राणी नहीं मर सकता। समय आने पर एक कांटा भी उसकी मृत्यु का कारण बन जाता है। देखिए—

नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि।
कुशकण्टकविद्धोऽपि प्राप्तकालो न जीवति॥ (हितोपदेश सुहृद्भेदः १७)

जिन भगवान् कृष्ण का महाभारत जैसे समर में बाल भी बांका न हुआ, उसी कृष्ण को समय आने पर एक व्याध के तीर से शरीर छोडना पड़ा। धनुर्द्धारी अर्जुन ने जिस गाण्डीव से ११अक्षौहिणी सेना पर विजय प्राप्त की, कालमहिमा से वही अर्जुन यादवस्त्रियों को दस्युओं से न बचा सका। शरविद्ध भी भीष्म उत्तरायणकाल तक शरीर न छोड सके। कालपुरुष किसी का खड्ग से मस्तक नहीं काटता। वह **तो विपरीत निमित्तों के आश्रय से मृत्यु का प्रेरक बनता है—**

न कालो दंडमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित् ।
कालस्य बलमेतावत् विपरीतार्थदर्शनम् ॥[1]

लोग कहते हैं–दवा देने में गड़बड़ हो गई । अमुक वैद्य को नहीं बुलाया । विषपान से अकालमृत्यु हो गई । नहीं तो यह न मरता । ये सब कालपुरुष के निमित्तमात्र हैं । कालपुरुष जब आता है तो बुद्धि-विपर्यय' कर देता है । यही इसका निमित्त है । तभी तो भवितव्यता को–"**न आप आते, न दास मरता**" इस प्रकार व्यास को ही मृत्यु का निमित्त बतलाने का अवसर मिल गया । वही कालपुरुष सब को उत्पन्न करता है, वही सब का संहार कर डालता है । काल की इसी नियति का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति-स्मृति कहती है—

काले यमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधि तिष्ठतः ।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः ।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देव ॥[2]

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः स्वपिति, जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥[3]

स्वयं व्यास ने महाभारत युद्ध के प्रवर्त्तक कालपुरुष का ही गुणगान किया है । इस से भगवान् को वक्तव्य इतना ही है कि न तेरे मारने से ये मरेंगे, न तेरे बचाने से ये बचेंगे । तू तो निमित्तमात्र है । जिन्हें तू मारना चाहता है, वे तो पहिले से ही मरे हुए हैं । अर्थात् मरना-मारना अपने अधिकार के बाहर की बात है । इन अपरिहार्य अर्थों में शोक कर स्वकर्त्तव्य से च्युत हो जाना बुरा है । पण्डित वही है जो कालचक्र का समादर करता हुआ, शोकावसरों पर उद्वेग न करता हुआ, हर्षावसरों पर स्पृहा न प्रकट करता हुआ अनन्यचेता बन कर अपने कर्त्तव्यकर्म्म पर दृढ रहे ।[4] इसी कालनियति का आगे भगवान्–"**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः**"–"**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्** इत्यादि रूप से स्पष्टीकरण करने वाले हैं । भला, काल के इस अपरिहार्य भाव को देखकर कौन समझदार शोक करेगा ?

प्रकरण के आरम्भ में यह कहा जा चुका है कि भगवान् का प्रकृत उपदेश भूतात्मपरक है । भूतात्मा का भौतिक भाग क्षरप्रधान है । क्षर भाव ही विकुर्वाण भाव है । "**न जायते म्रियते**" के प्रकरण में–"**जायते-अस्ति**" आदि जिन षड्भावविकारों का दिग्दर्शन कराया गया है, वे भावविकार इस क्षर के ही स्वरूपधर्म्म हैं । विज्ञानदृष्टि से उन ६ओं का **अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त** तीन भावों में अन्तर्भाव माना जा सकता है । बल अपने परिवर्तनस्वभाव के कारण अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त-भावत्रयी में परिणत रहता

१ महा० भा० सभापर्व अ० ८१।११ गणपत कृष्णजी संस्कार शाके० १७८४ ।
२ अथर्ववेद १६।६।५४।५ । ३ हरितः
४ देखिए म० उद्योग० २८ पृष्ठ ।

है। पहले भीष्म द्रोणादि अव्यक्त थे, आज व्यक्त हैं, किसी दिन पुनः अव्यक्त भाव में परिणत हो जायेंगे। परिवर्तन को ही जन्म-मृत्यु कहा जाता है। इसमें वस्तुस्वरूप का नाश नहीं हैं। पार्थिव पानी अगस्त्योदय काल में बाष्परूप में परिणत होकर अव्यक्त बन जाता है। वर्षा में वही व्यक्त बन जाता है। फिर शरद् में अव्यक्त बन जाता है। क्या एक बुद्धिमान इस अवस्थात्रयी के शाश्वत परिभ्रमण से वस्तुतत्व का नाश मानेगा? कभी नहीं। इस दृष्टि से भी संताप करना व्यर्थ है। यह सब अव्यक्त क्षरात्मा की क्रीड़ामात्र है—**"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"**[1]।

॥ इति ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषदि षष्ठोपदेशः ॥

६

---

१ ब्रह्मसूत्र २।१।११।३३

सप्तमोपदेशः

७–नित्यानित्ययोरसङ्गसङ्गिनोः सम्बन्धस्यानिर्वचनीयत्वात्, आश्चर्य्यमयत्वेऽपि आत्मावध्यत्त्वसिद्धान्तात्-शोकानौचित्यम्*

१–आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम् ।
आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति ।
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।। (गीता २।२९)

२–देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।। (गीता २।३०)

[मूलानुवाद] "इस आत्मा को कोई आश्चर्यमय देखता है, वैसे ही कोई आश्चर्यमय इसको कहता है, कोई इसे आश्चर्यमय ही सुनता है। (देखकर) सुनकर भी इसे कोई (यथार्थरूप से) नहीं जानता है। हे अर्जुन ! सब के देह में रहने वाला यह देही (आत्मा) नित्य है, मारे जाने के अयोग्य है। ऐसी अवस्था में तुझे सब भूतों का (भौतिक शरीरों का) शोक नहीं करना चाहिए।"

[भाष्य] अनुशोक एवं शोकनिवृत्ति के लिए भगवान् ने अर्जुन के सामने निर्द्वन्द्वपरमात्मा का भी स्वरूप उपस्थित किया, साथ ही में अर्जुनाभिमता सांख्यनिष्ठा का समादर करते हुए मृतात्मपक्ष में भी शोक की व्यर्थता सिद्ध की। इस द्वैधीभाव से अर्जुन प्रश्न कर सकता है कि भगवन् ! कभी तो आत्मा को जन्ममृत्युद्वन्द्वरहित बतलाते हुए अनुशोक व्यर्थ बतलाते हो, कभी आत्मा को जन्म-मृत्युयुक्त मानते हुए शोक को अनुचित बतलाते हो। शोकानुशोक तो पीछे हटेंगे, पहले तो इस द्विविधा का निराकरण

---

* आत्मा नित्य है, असङ्ग है। शरीर अनित्य है, ससंग है। दोनों तमःप्रकाशवत् अत्यन्तविरुद्ध हैं। दोनों का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए था, परन्तु हो रहा है। यही इस सम्बन्ध की अनिर्वचनीयता है। इसी अनिर्वचनीयसम्बन्ध के कारण आत्मा एक आश्चर्य की वस्तु है। इसके यथार्थस्वरूप को जानना असंभव है। फिर भी इसके सम्बन्ध में यह निश्चित है कि यह कभी मरता नहीं। इसलिए तेरा शोक करना व्यर्थ है।

कीजिए । कभी आप कहते हैं–"**न जायते म्रियते वा कदाचित्**" । कभी आप कहते हैं–"**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च**" । यदि आत्मा व्यापक है तो वह न जन्म ले सकता, न मर सकता है । यदि आत्मा जन्म लेता है, मरता है तो वह व्यापक नहीं हो सकता । दोनों बातें आप कह रहे हैं । दोनों धर्म्म परस्पर में अत्यन्तविरुद्ध हैं । साथ ही में आपके कथन में भी मैं अविश्वास नहीं कर सकता । सचमुच आप इस आश्चर्यमय आत्मा के द्वारा मुझे आश्चर्य में डाल रहे हैं । आपका बतलाया हुआ आत्मा भी सचमुच एक आश्चर्य की वस्तु है । मैं भी इससे आश्चर्य में पड़ रहा हूँ । भगवान् उत्तर देते हैं–ओम् । अर्जुन ! वास्तव में आत्मा आश्चर्य की ही वस्तु है । हम ही क्या ? जो आत्मस्वरूप पर दृष्टि डालेगा, जो भी आत्म-स्वरूप का (अपने देखे के अनुसार) बखान करेगा, एवं जो भी उस वक्ता से सुनेगा, ऐसी आश्चर्य की ही बात सुनेगा । आनन्द तो यह है कि सुनेगा, समझेगा आत्मसम्बन्धी जिज्ञासा शान्त करने के लिए, परन्तु सुनकर समझकर वह और भी अधिक आश्चर्य में पड़ जायगा । इसकी चिकित्सा हमारे पास नहीं है । आत्मा का स्वरूप ही जब आश्चर्यवत् है तो फिर द्रष्टा-वक्ता-श्रोता उसे आश्चर्यवत् देखे, आश्चर्यवत् कहे, आश्चर्यवत् सुने तो इसमें कौनसा आश्चर्य है ? जो असंग है, वही ससंग विश्व का कर्त्ता माना जा रहा है, यह क्या कम आश्चर्य है ? जो व्यापक है, वही परिच्छिन्न बन रहा है, यह क्या कम आश्चर्य है ? जो परमात्मा है, वही भूतात्मा है, यह क्या थोड़े आश्चर्य का विषय है ? जिस वस्तु का जैसा स्वरूप होगा, वक्ता श्रोता को वही तो बतलावेगा । आत्मा का स्वरूप ही जब आश्चर्यमय है तो फिर हम सिवाय उस आश्चर्यमय आत्मा के और तुझे क्या बतलाते ? तू क्या ? सभी सुन सुनाकर, खूब समझ समझा कर भी इसी प्रकार आश्चर्य किया करते हैं । सबसे बडा आश्चर्य तो यह है कि खूब सुन सुनाकर समझ समझा कर भी आज तक किसी ने आत्मा के सम्बन्ध में "**इदमित्थमेव**" यह निश्चयात्मक निर्णय नहीं किया है । यदि निर्णय हो जाता तो फिर वह आश्चर्यमय ही क्यों रहता ?

उस आश्चर्यभाव का एकमात्र कारण है–रस, बल के सम्बन्ध की अनिर्वचनीयता । रस ज्ञानमय होने से ब्रह्म है, बल क्रियामय होने से कर्म्म है । कर्म्म और ब्रह्म का परस्पर में क्या सम्बन्ध है ? पहले यह विचार कीजिए । इस सम्बन्धपरिज्ञान के लिए पहले पुरोऽवस्थित मृत्तिकामयघट और मिट्टी के सम्बन्ध का विचार कीजिए । मिट्टी को रस समझिए, घट को बल समझिए । मिट्टी भिन्न वस्तु है । यदि दोनों एक ही वस्तु होते तो '**घटमानय**' कहने पर मिट्टी भी लाई जा सकती थी, एवं '**मृदमानय**' कहने पर घड़ा भी लाया जा सकता था । परन्तु हम देखते हैं कि घड़ा लाओ । इस वाक्य से घट का ही आनयन होता है, मिट्टी लाओ ! इस वाक्य से मिट्टी ही लाई जाती है । फलतः मृद्-घट का भेदसम्बन्ध सिद्ध हो जाता है । सचमुच कारणरूप सत् मृत्तिका भिन्न पदार्थ है, कार्यरूप असद्घट भिन्न पदार्थ है ।

घड़ा मिट्टी में प्रतिष्ठित है । यदि मिट्टी को हटा दिया जाय तो घट तत्काल नष्ट हो जाय । इस-लिए हम कह सकते हैं कि मिट्टी ही घड़े का आधार है । मिट्टी पर ही घट बैठा है । कारण में कार्य प्रतिष्ठित हो रहा है । यही दूसरा सम्बन्ध है ।

जैसे घडा मिट्टी में है, एवमेव मिट्टी घड़े में है, यह भी तो कहा जा सकता है । कारण अपने कार्य के अतिरिक्त और कहाँ प्रतिष्ठित रहेगा ? क्या घड़े में मिट्टी नहीं है ? है, और अवश्य है । सचमुच कार्य-घट में कारण मृत्तिका प्रतिष्ठित हो रही है । यही तीसरा सम्बन्ध है ।

घट के परमाणु परमाणु का अन्वेषण कर डालिए। वहाँ आपको सिवाय मिट्टी के और कोई दूसरी वस्तु न मिलेगी। सचमुच मिट्टी के अतिरिक्त घट और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। मिट्टी ही घट है। कारण ही कार्यरूप में परिणत हो रहा है। यही चौथा सम्बन्ध है।

घट मिट्टी से पृथक् नहीं है, परन्तु मिट्टी अवश्य ही घट से पृथक् तत्त्व है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि मिट्टी जब घट न था तब थी, आज भी है, घट नष्ट हो जाने पर भी मिट्टी रहेगी। परन्तु घट मिट्टी के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता! सचमुच कार्य कारण से अभिन्न है, परन्तु कारण कार्य से भिन्न है, यही पांचवां सम्बन्ध है।

घट नाम का कोई सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं है। यदि सत्तासिद्ध पदार्थ होता तो मृत्तिकावत् सदा उसकी उपलब्धि होती। जिस प्रकार सर्वथा असत् पुरुष की स्थाणु में, रजत की शुक्ति में, सर्प की रज्जु में प्रतीतिमात्र हो रही है, एवमेव सर्वथा असत् घट सत् मिट्टी में प्रतीत हो रहा है। इसीको दार्शनिक **अध्यास** सम्बन्ध कहा करते हैं। यही ६ठा सम्बन्ध है।

उक्त ६ओं ही सम्बन्ध परस्पर में अत्यन्तविरुद्ध हैं। परन्तु सब का एक ही घट में समन्वय हो रहा है। कई विरोधी भाव एक स्थान पर रहते नहीं, परन्तु रह जो रहे हैं। फिर इस सम्बन्ध का हम किस रूप से वाणी द्वारा अभिनय करें? एक सम्बन्ध बतलावेंगे, दूसरा आ कूदेगा। दूसरे के प्रतिपादनावसर पर तीसरा, चौथा, पांचवा, छठा। लीजिए हमारी तो वाणी ही बंद हो गई। बस षड्विकल्पात्मक यही सम्बन्ध **अनिर्वचनीय** है। ऐसे अनिर्वचनभाव के सम्बन्ध में आश्चर्य न हो तो आश्चर्य है। ठीक यही दशा रसवल के सम्बन्ध में समझ लीजिए। रस बल पृथक् हैं, रस ही बल है, रस में बल है, बल में रस है, रस बल से पृथक् है—बल रस से अभिन्न है, रस में बल का अध्यास हो रहा है, यही तो आश्चर्यभावमूला अनिर्वचनीयता है।

दूसरी तरह से इस अनिर्वचनीयता का विचार कीजिए। आपकी अंगुली में बल प्रतिष्ठित है। ताकत है। यदि बल न होता तो आप अंगुली कभी नहीं हिला सकते थे। अंगुली और शक्ति दो भाति हैं, दो तत्त्व हैं, फिर भी आश्चर्य यह है कि अंगुली एक कहलाती है। अंगुली को रस समझिए, शक्ति को बल समझिए। हम आपसे पूछते हैं कि अंगुली बलपर है अथवा बल पर अंगुली है। आप सारा विज्ञान खर्च कर देने पर भी इस प्रश्न की कोई निश्चित मीमांसा न कर सकेंगे। आपको यही कहना पड़ेगा कि अंगुली के भीतर क्रिया है, क्रिया के भीतर अंगुली है। क्या यह उत्तर आश्चर्यमय न होगा? यही तो इसकी अनिर्वचनीयता है। **"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्" "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः"** इत्यादि श्रुतियाँ भी आत्मा के इसी अनिर्वचनीय सम्बन्ध का स्पष्टीकरण कर रही हैं। आप तो अपनी बात लिए फिरते हैं। हमें तो यह मान लेने में भी संकोच नहीं होता कि जो इस विश्व का अध्यक्ष मायी महेश्वर है, वह भी अपने इस आश्चर्यमयस्वरूप को जानता है कि नहीं, इसमें सन्देह है। देखिए! श्रुति क्या कहती है—

को अद्धा वेद कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिर्यत आबभूव ।
अर्वाग् देवा विसर्जने नाथा को वेद यत आबभूव ।।[1]
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद ।।[2]

सच बात है । एक पुत्र यदि अपने सामने अपने माता पिता की उत्पत्ति जानना चाहता है तो यह उसकी व्यर्थ की बिडम्बना ही कही जायगी । मायामय मायी महेश्वर उस अमायी परात्पर का स्वरूप क्यों कर जान सकता है ? वह उस व्यापक को विश्व में परिच्छिन्न देखकर केवल आश्चर्य प्रकट कर सकता है । बात यथार्थ में यह है कि द्वन्द्वातीत परमात्मा परात्पर निःसीम होने से सर्वथा अविज्ञेय है । कारण, सीमित मन बुद्धि उस पर नहीं जा सकती । मायान्तर्गत उसीका सगुण रूप जहाँ विजिज्ञास्य है, उसीका मायातीत निर्गुणरूपात्मक अरूप एकान्ततः अविज्ञेय है । इसकी इसी अविज्ञेयता का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषत्-श्रुति कहती है–

संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।।[3]
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।[4]

निर्गुण सगुण कैसे बन गया ? यह प्रश्न अचिन्त्य है । एवं अचिन्त्य पदार्थों के सम्बन्ध में आप्त पुरुषों का निम्न लिखित आदेश है—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ।।[5]

व्यापकतत्त्व समझने की वस्तु नहीं है । क्योंकि जो समझने वाला है, वही तो वह है । "**विज्ञातारमरे वा केन विजानीयात्**" । व्यापक तत्त्व जैसे आश्चर्यमय है, वैसे ही व्यापक का परिच्छिन्न बन जाना भी आश्चर्यमय ही है । सोपाधिक रूपों के सम्बन्ध में तो फिर भी कुछ अण्ट सण्ट अनुमान लगाए जा सकते हैं, परन्तु विशुद्ध व्यापक में तो अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता । उसका न जानना ही जानना है । उसका न है कब, जिसे प्राप्त करने का, जानने का प्रयास किया जाय । इसी अभिप्राय से ऋषि कहते हैं–

---

१ ऋग्वेद मं० १०।१२९।६ ।
२ ऋग्वेद मं० १०।१२९।७ ।
३ तै० उप० १।४।१० ।
४ केनोप० ११ ।
५ भीष्मपर्व ५।१२ गणपत कृष्णा जी ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।[1]

जो विद्वान् आत्मा का स्वरूप बतला रहा है, यह भी एक आश्चर्य का विषय है। भला आत्मा भी कभी शब्द द्वारा बतलाया जा सकता है ? जो कहता है–मैंने आत्मसाक्षात् कर लिया, यह भी आश्चर्य का विषय है। जो कहता है–मैंने सुनलिया, समझलिया, यह भी महाआश्चर्य है। आश्चर्यों का आश्चर्य तो यह है कि सुनने-समझने पर भी यदि उससे पूछा जाय कि तू क्या समझा तो वह जवाब देगा-कुछ नहीं समझा, मैं तो और आश्चर्य में पड़गया। इस प्रकार भगवान् आत्मस्वरूप की व्यापकता का संकेतविधया दर्शन कराते हुए भूतात्मवादी अर्जुन को आदेश देते हैं कि अर्जुन ! तू परमात्मा पर विश्वास रख अथवा भूतात्मा पर। परन्तु हम तुझे यह विश्वास दिलाते हैं कि आत्मा के आश्चर्यमय होने पर भी वह सदा नित्य एवं अवध्य है। भूतात्मा का भूतभाग सदा वध्य ही है, आत्मभाग सदा अवध्य ही है। **आत्मा का कभी विनाश संभव नहीं है। बस हमने अब तक आश्चर्यमय जो कुछ बातें तेरे सामने रक्खी हैं, उन सबका एकमात्र यही निष्कर्ष है।** सांख्यनिष्ठा में प्रतिष्ठित रहता हुआ भी तू आत्मनित्यता पर दृढ़ विश्वास करता हुआ स्वधर्म्म का पालन कर। यही तेरा सच्चा ज्ञानयोग है, यही तेरी सच्ची ज्ञाननिष्ठा है। यही तेरा परम पुरुषार्थ है।

।। इति ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषदि सप्तमोपदेशः ।।

७

———

१ कठोप० १।२।२३ ।

सांख्यनिष्ठा में नैतिक उपदेश—

(ऐतिहासिक ७ श्लोक)

१–स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।। (गीता २।३१)

२–यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ ! लभन्ते युद्धमीदृशम् ।। (गीता २।३२)

३–अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्म्मं कीर्त्ति च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।। (गीता २।३३)

४–अकीर्त्ति चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते ।। (गीता २।३४)

५–भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।। (गीता २।३५)

६–अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।। (गीता २।३६)

७–हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।। (गीता २।३७)

[मूलानुवाद] स्वधर्म्म को लक्ष्य में रखते हुए भी तुझे कम्पित नहीं होना चाहिए । क्योंकि धर्म्मभावमय युद्ध को छोड़ कर क्षत्रिय का कल्याण करने वाला दूसरा साधन नहीं है ।।१।।

बिना प्रयास के ही प्राप्त, कपाटखुले हुए स्वर्गद्वार को, एवं तत्प्राप्तिसाधनभूत ऐसे युद्ध को भाग्यशाली क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं ।।२।।

अब यदि तू धार्मिक संग्राम न करेगा तो स्वधर्म्म एवं कीर्त्ति को छोडता हुआ तू पाप का भागी बनेगा ।।३।।

सभी मनुष्य सदा तेरी अकीर्त्ति का बखान करते रहेंगे। एक प्रतिष्ठित मनुष्य की इस प्रकार अकीर्त्ति हो जाना उसके मर जाने से भी अधिक है ॥४॥

युद्ध में समुपस्थित ये महारथी लोग यही समझेंगे कि तू डर से युद्ध छोड बैठा है। इस प्रकार जिन महारथियों की दृष्टि में तू बडा बना हुआ है, उन्हीं की दृष्टि में गिर जायगा ॥५॥

(शत्रुलोग) तेरे सम्बन्ध में तेरा अहित करने वाली निन्दात्मक बातें बनाने लगेंगे। तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए (वे लोग तेरे सम्बन्ध में इस प्रकार भला बुरा कहने लगेंगे) इससे अधिक दुःखकी बात और क्या है? ॥६॥

यदि तू मारा गया तो स्वर्ग सुख प्राप्त करेगा, जीत गया तो पृथिवी का (साम्राज्य सुख का) उपभोग करेगा। इसलिए हे कुन्तीपुत्र! युद्ध के लिए निश्चय करके खड़ा हो जा ॥७॥

[भाष्य]—१–पूर्व प्रतिपादित ७वें उपदेश में भगवान् ने अर्जुन के भूतात्मप्रधाना सांख्य निष्ठा का समादर किया। इस पर सम्भव है कि अर्जुन भूतात्मसम्बन्धी उसी शोक का बेसुरा राग अलापने लगे। भूतात्मा की कृपा से ही तो उसमें शोक का उदय हुआ था। इस शोक का खण्डन भगवान् ने–**"देही नित्यमवध्योऽयम्"** इत्यादि रूप से किया। फिर भी एक आशङ्का बच जाती है। यद्यपि परमात्मदृष्टि में पाप-पुण्य का सम्बन्ध नहीं है। परन्तु भूतात्मदृष्टि के अनुसार कर्म्मविशेष पाप-पुण्य के कारण अवश्य ही बनते हैं। अर्जुन ने शोक के साथ साथ ही—

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।[1]
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निर्वर्तितुम् ॥[2]

इत्यादि रूप से युद्ध करने में पाप का भागी होना भी बतलाया था। भगवान् अर्जुन के भूतात्मवाद को सुरक्षित रखते हुए, साथ ही में आत्मनित्यता के द्वारा शोक हटाते हुए–धर्म्मदृष्टि से अर्जुन की उस पापभ्रान्ति का उन्मूलन करते हुए इस ऐतिहासिक प्रकरण का आरम्भ करते हैं–

अर्जुन! हमें विश्वास है कि तू धर्म्मशास्त्र की आज्ञा का कभी उल्लंघन न करेगा। केवल धर्म्म रक्षा के लिए ही तैंने चौदह[3] वर्ष तक घर छोड दिया था। धर्म्म को लक्ष्य में रख कर ही तो मैंने द्रौपदी

१ गीता १।३८। २ गीता १।३९।

३ पाण्डुपुत्रों ने यह नियम बना रखा था कि जिस समय द्रौपदी के पास (पाण्डवों में से) जो भ्राता हो, उसी समय भूल से अथवा जानकर दूसरा भ्राता आ जाय तो उसे १४ वर्ष तक एकान्तवास करना पड़ेगा। एक बार ब्राह्मण की गौ को तस्कर के हाथ से बचाने के लिए अर्जुन को शस्त्र लेने के लिए उस स्थान पर जाना पड़ा, जहाँ पर कि युधिष्ठिर द्रौपदी से बातचीत कर रहे थे। वहीं अर्जुन के शस्त्र रक्खे थे। इसी पाप के प्रायश्चित के लिए अर्जुन ने धर्म्मराज युधिष्ठिर के बहुत विरोध करने पर भी १४वर्ष एकान्तवास किया था। इसी यात्रा में अर्जुन का उलुपी के साथ सम्बन्ध हुआ था। एवं उलुपी के गर्भ से इतिहास प्रसिद्ध **बभ्रुवाहन** उत्पन्न हुएथे।

की उस दुर्दशा को शान्तिपूर्वक सह लिया था । सचमुच तू बडा धर्म्मात्मा है । हमें यह आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि आज भी यदि तेरे सामने धर्म्मशास्त्रसम्मत कोई कर्त्तव्य रक्खा जायगा तो तू उससे पराङ्मुख न होगा । अर्जुन ! हमें दुःख के साथ कहना पड़ता है कि शोक ने तेरी निर्मलबुद्धि को थोड़ी देर के लिए मलिन बना दिया है । यही कारण है कि तू पापकर्म्म को पुण्य समझ रहा है एवं पुण्य-कर्म्म को पाप समझ रहा है । तू कौन है ? क्षत्रिय । क्षत्रिय नाम का क्या रहस्य है ? तू जानता है । क्षत्रिय क्यों क्षत्रिय कहलाता है, ब्राह्मण क्यों ब्राह्मण कहलाता है ? इस वर्ण एवं आश्रमभेद का क्या मूल है ? धर्म्मशास्त्रोक्त वर्णाश्रमविभाग किस आधार पर प्रतिष्ठित हैं ? यह तू जानता हुआ भी आज शोक के कारण अनजान बन रहा है । प्रत्येक वर्ण की, प्रत्येक आश्रम की रक्षा तत्तद्विशेषधर्म्मों पर ही अवलम्बित है । तत्तद्वर्णाश्रम के तत्तद्विशेषधर्म्म ही तत्तदाश्रम के स्वधर्म्म कहलाते हैं । विपरीतधर्म्म उनका स्वरूप बिगाड़ते हुए उनके लिए अधर्म्म ही बन जाते हैं । तू जानता है कि क्षत्रिय के लिए धर्म्माचार्यों ने निम्नलिखित धर्म्म माने हैं—

१–क्षत्रियो हि प्रजारक्षश्शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान् ।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्म्मेण पालयेत् ।।

२–समोत्तमाधमै राजा त्वाऽऽहूतः पालयन् प्रजाः ।
न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्म्ममनुस्मरन् ।।[1]

३–संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ।।[2]

४–अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ।।[3]

५–एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ।।[4]

६–युद्धं स्वधर्मो नृपतेः प्रजानां परिपालनम् ।

अर्जुन ने–**"नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम"**–**"अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्"** इत्यादि रूप से क्षत्रिय के स्वधर्म्मभूतयुद्ध को पाप और नरक का कारण बतलाया था । उधर धर्म्मशास्त्र

१ मनु० ७।८७ ।
२ मनु० ७।८८ ।
३ मनु० ८।१२८ ।
४ मनु० ८।४२० ।

स्वधर्म्मपरिपालन में पुण्य और स्वर्ग-सुख बतला रहा है। अपने आधिकारिक कर्म्म में प्रवृत्त रहता हुआ एक वधिक जैसे निन्दा का भागी नहीं होता, एवमेव क्षात्रधर्म्मानुसार युद्ध में प्रवृत्त होने वाला क्षत्रिय कभी पाप का भागी नहीं बन सकता। पापभय से ही तो अर्जुन कम्पित हुआ था। उसी भय का निराकरण करते हुए भगवान् ने इस धर्म्मयुद्ध को स्वधर्म्म होने से पुण्य का कारण बतलाया है। अर्जुन कम्पित हो गया था, भगवान् कहते हैं-स्वधर्म्म समझ कर कम्पित होने की कोई आवश्यकता नहीं। अर्जुन ने कहा था कि "न च श्रेयोऽनुपश्यामि" इसके उत्तर में भगवान् ने "धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते" यह कहा है।

॥ १ ॥

२-अर्जुन कहता है-युद्ध करना स्वधर्म्म ही सही परन्तु क्या इसके लिए पूजार्ह भीष्मद्रोण ही बचे हैं ? पापी तो दुर्योधन है। ये न तो पापी हैं, न हमारा अनिष्ट चाहने वाले हैं। भला इनको मारना कैसा स्वधर्म्म है ? इसका समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं-अर्जुन कौन कहता है, भीष्मद्रोणकृपादि पूजार्ह नहीं हैं। कौन कहता है-ये पापी हैं। कौन कहता है-ये तेरा अनिष्ट चाहते हैं। परन्तु हम पूछते हैं, क्या तू इन्हें निमन्त्रण देने गया था कि आप युद्ध भूमि में पधारिए ? मैं आपका वध करूंगा। जब ये अपने आप युद्ध करने के लिए उपस्थित हैं तो इसमें तेरा कोई दोष नहीं है। अर्थ के दास बने हुए यदि भीष्मादि एक आततायी पापी की मदद के लिए खड़े हुए हैं तो ऐसी स्थिति में तू इस पाप का निमित्त कथमपि नहीं बन सकता। तेरे लिए तो बिना प्रयास (यदृच्छा से) ही स्वर्गद्वार उपस्थित हो गया है। अपनी ओर से प्रयास न हो, आततायी स्वयं लड़ने आवे, ऐसा अवसर तो किसी भाग्यशाली क्षत्रिय को ही मिल सकता है। एक ओर स्वधर्म्म, दूसरी ओर स्वर्ग। कौन क्षत्रिय ऐसे स्वर्णावसर को हाथ से जाने देगा ? ऐसे धर्म्मयुद्ध में हिंसाजनित पाप का अणुमात्र भी संसर्ग नहीं होता। देख—

१-आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥[1]

इस प्रकार इस युद्ध को कभी प्रत्यवाय का कारण नहीं माना जा सकता। और देख ! एक आततायी की ओर से युद्धार्थ उपस्थित गुरु द्रोणादि भी आततायीवर्ग की सीमा से बाहर नहीं माने जा सकते। अपना घनिष्ठ से घनिष्ठ बन्धु हो, पूज्य हो-यदि वह आततायी बन कर, सो भी शस्त्र लेकर सामने उपस्थित होता है तो उसे बिना विचारे मार ही डालना चाहिए। मारने वाला उसे नहीं मारता, अपि तु वह अपने पाप से मारा जाता है-"**मन्युस्तं मन्युमृच्छति**"। शास्त्र भी यही कहता है—

१-गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥[2]

१ मनु० ७।८९। २ मनु० ८।३५०।

२–आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् ।
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ।।
नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।। इत्यादि ।।[1]

इस प्रकार अर्जुन ने–"पूजार्हावरिसूदन"–"स्वजनं हि कथं हत्वा०" इत्यादि हेतु बतलाए थे, भगवान् ने–"यदृच्छया चोपपन्नं" से उन सब हेत्वाभासों का निराकरण करते हुए यही कहा है कि तू इस युद्ध का प्रेरक नहीं है । इसलिए तू कभी पाप का भागी नहीं बन सकता ।

।। २ ।।

—०—

३–मान लीजिए, अर्जुन को स्वर्गसुख नहीं चाहिए । जैसा कि अर्जुन ने स्पष्ट शब्दों में–"**अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः**" "न काङ्क्षे विजयं कृष्ण" इत्यादि रूप से प्रतिपादित किया है । भगवान् कहते हैं, अर्जुन ! भूलता है । अरे ! यहाँ स्वर्गफल का प्रश्न ही नहीं है । राज्यश्री मिले या न मिले, इसमें हम तेरा कोई हानिलाभ नहीं समझते । सवाल तो पाप-पुण्य का है । धर्म्मयुद्ध से पराङ्मुख क्षत्रिय के दोनों लोक बिगड़ जाते हैं । स्वधर्म्म का परित्याग पहिला पाप है । इससे परलोक बिगड़ता है । अकीर्त्ति दूसरा पाप है । इससे इस लोक में अप्रतिष्ठा होती है । हाँ, यह बात अवश्य ही है कि जो क्षत्रिय धर्म्मबुद्धि से संग्राम नहीं करता, वह पापी होता है । धर्म्मयुद्ध का स्वरूप धर्म्मशास्त्र ने निम्नलिखितरूप से स्पष्ट किया है—

१–न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ।।
२–न च हन्यात् स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ।।
३–न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ।।
४–नाऽऽयुधव्यसनप्राप्तं नार्त्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्म्ममनुस्मरन् ।।[2]

ठीक इसके विरुद्ध–"निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्म्मेण पालयेत्" "न निवर्त्तेत संग्रामात्" इत्यादि शास्त्राज्ञासिद्ध धर्म्ममय स्वधर्म्मयुद्ध से कभी पराङ्मुख नहीं होना चाहिए । यही नहीं, यदि तू युद्ध से

१ नीलकण्ठ टीका महा० भा० भीष्म पर्व अ० २५।३६ । २ मनु० ७।९० से ९३ तक ।

विमुख हो जायगा तो तेरे ये शत्रु तुझे कब छोड देंगे । परिणाम इसका यह होगा कि तेरा सारा सुकृत उनमें चला जायगा, उनका सारा दुष्कृत तेरे में आ जायगा । तू कहता है–"**पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः**" । धर्म्मशास्त्र कहता है–इनके न मारने से तू पाप का भागी बनेगा । देख ! धर्म्माचार्य क्या कहते हैं—

१–यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।[1]
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत् सर्वं प्रतिपद्यते ॥
२–यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्त्ता तत् सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥

राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम् ।

इसलिए अपयशरूप पाप, एवं स्वधर्म्मपरित्यागजनितमहापाप से बचने के लिए तुझे अवश्य ही इस धर्म्मसंग्राम में प्रवृत्त होना चाहिए ।

॥ ३ ॥

—o—

४-तू कहेगा, महाराज ! पाप का फल किसने देखा ? "**आत्मनस्तुष्टिरेवच**" इस शास्त्रसम्मत सिद्धान्त के अनुसार मुझे जब युद्ध न करने से शान्ति मिल रही है तो मेरे लिए यही धर्म्म है, आत्मतुष्टि का विघातक युद्ध अधर्म्म है । भगवान् कहते हैं–तेरा आत्मा अभी स्वरूप में नहीं है । आगन्तुक शोकधर्म्म से तेरा विवेक ज्ञान नष्ट हो गया है । एक सन्निपात का रोगी अन्न खाने में जैसे आत्मतुष्टि समझता है, ठीक वही दशा तेरी है । अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए तेरी बात मान भी ली जाय तब भी हम तेरी आत्मतुष्टि का कोई कारण नहीं देखते । जाने दे–अतीन्द्रिय पाप-पुण्य के झगडों को । यही तेरे लिए एक कण्टक खड़ा हो जायगा । पाप लगेगा, सारा यश मिट्टी में मिल जायगा, यहीं सीमा समाप्त नहीं हो जायगी । अपि तु पुरस्कार में अपयश भी मिलेगा । अपयश भी एक दो दिनके लिए नहीं, सदा के लिए । ऐतिहासिक लेखक लिखेंगे कि कायर अर्जुन ने डर कर पीठ दिखादी । तेरी यह ऐतिहासिक घटना घर-घर में कही सुनी जायगी । भला जगत् में–"**अर्जुन जैसा धनुर्द्धर दूसरा नहीं है**" इस प्रकार की कीर्ति प्राप्त करने वाला तू अपनी अपकीर्त्ति सुन कर भी अपनी आत्मतुष्टि बनाए ही रहेगा । अरे ! ऐसी अपकीर्त्ति से तो मर जाना कहीं अच्छा है । इस अपकीर्त्तिरूप महाशूल से बचने के लिए अवश्य ही तुझे युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिए ।

॥ ४ ॥

—o—

१ मनु० ७।९४-९५ ।

५–कदाचित् तू कहे कि मेरे सामने मेरी निन्दा कौन कर सकता है ? सब मेरे प्रभाव को जानते हैं। रही इतिहास की बात। उसे कौन देखने आवेगा ? सब यही कहेंगे कि अर्जुन कायरता से पराङ्मुख नहीं हुआ है, अपितु उसने करुणावश ऐसा किया है। फिर थोड़े बहुत सामान्य तटस्थ व्यक्ति मेरी वास्तविक परिस्थिति को न जानते हुए मेरी निन्दा भी करें तो उनकी निन्दा का क्या मूल्य है ? भीष्मद्रोणादि महारथी तो परिस्थिति से परिचित रहेंगे ही। महापुरुष यदि निन्दा करें तो अवश्य ही खेद की बात है। परन्तु इसकी मुझे जरा भी सम्भावना प्रतीत नहीं होती। भगवान् कहते हैं, अर्जुन ! भूलता है। अरे जब तक तू स्वधर्म्म पर खड़ा है, तभी तक तेरी प्रतिष्ठा है। संसार का यह एक स्वाभाविक नियम है कि जब तक मनुष्य अपने कर्त्तव्य पर दृढ रहता है, तभी तक उसका सम्मान होता है। जरा दोष होने पर तत्काल उसे उच्चासन से गिरा दिया जाता है। देवेन्द्र जरासी भूल से (अहल्यासङ्गम से) आज तक बदनाम है। चन्द्रमा की जरा सी भूल ने आज तक उन्हें कलङ्की बना रक्खा है। जब तक हम-हम हैं, तभी तक हम समाज के हैं, समाज हमारा है। जिस दिन हम अपने कर्तव्य से गिर जायेंगे, समाज हमें ठुकरा देगा। जो भीष्म-द्रोणादि आज तुझे बडा मान रहे हैं, विश्वास रख, युद्ध से पराङ्मुख होते ही वे तुझे डरपोक-भगोड़ा समझने लगेंगे। उनकी दृष्टि में तेरी सारी प्रतिष्ठा गिर जायगी। आखिर तेरे कर्त्तव्य ने ही तो तुझे इस प्रतिष्ठा पर पहुँचाया है। अर्जुन बडा नहीं है, अर्जुन की कर्त्तव्यपरायणता बडी है। उसे छोडने पर तू एक सामान्य मनुष्य रह जायगा। इसलिए इस सम्बन्ध में तेरी उक्त कल्पना का कोई मूल्य नहीं है।

॥ ५ ॥

—०—

६–तू कहेगा कि भीष्मादि मेरी निन्दा करेंगे, ठीक है। मैं कायर कहलाऊँगा, ठीक है। मैं उनकी दृष्टि में गिर जाऊँगा, यह भी ठीक है। परन्तु युद्ध के कर्णधार दुर्योधन-दुःशासन-कर्ण आदि तो मेरी प्रशंसा ही करेंगे। वे समझेंगे कि चलो एक बला टली। इस उपकार के बदले क्या वे भी मेरी निन्दा करेंगे ? मुझे तो विश्वास नहीं होता। अर्जुन ! तू आवश्यकता से अधिक भोला है। अरे ! उत्तम उत्तम कार्य करने पर भी जो दुर्योधनादि तेरी सदा निन्दा ही करते रहते हैं, वे भला इस अवसर से कब चूकने वाले हैं ? भीष्म-द्रोणादि तो फिर भी मन ही मन सब बात सहलेंगे। परन्तु दुष्टबुद्धि दुर्योधनादि तो सर्वत्र तेरी अपकीर्त्ति का भरसक प्रचार करना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझेंगे। जहाँ भी मण्डली इकट्ठी होगी–कहेंगे लो ! बडी बातें बनाता था, बडा शूरवीर बनता था। अरे ! ये सब दिखावटी बातें थी। हमारी सेना की विशालता देखते ही 'बच्चूजी की नानी मर गई'। पीठ दिखा कर भाग खड़े हुआ। अर्जुन ! इससे बढकर तेरे लिए और क्या दुःख होगा ? सोच ! खूब सोच ! मैं तो तुझे यही कहूँगा कि—

॥ ६ ॥

—०—

७–यदि तू मर गया तो स्वर्ग मिलेगा, जीत गया तो साम्राज्य सुख का उपभोग करेगा। दोनों हाथों लड्डू हैं। इसलिए शोकजनित बुद्धिवैक्लव्य को छोड़कर कमर कसके खड़ा हो जा।

॥ ७ ॥

—o—

॥ इति ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषदि सप्तमोपदेशः ॥

७

इति-राजर्षिविद्यायाम्

ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषत् (सप्तोपदेशी)
समाप्ता

१